संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का
प्रतिपादक मासिक

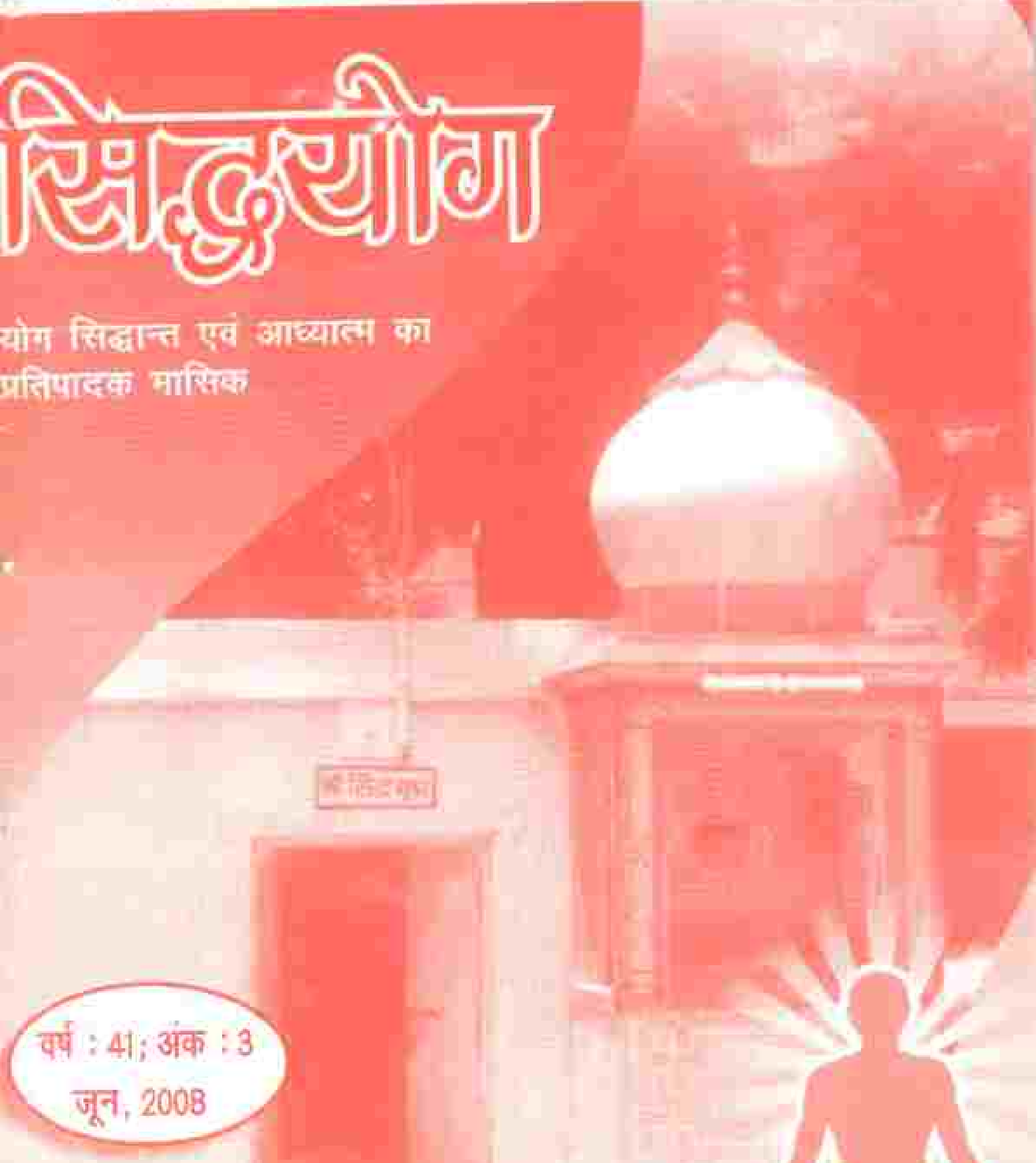

वर्ष : 41; अंक : 3
जून, 2008

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र.

अमृतकण

प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

मुण्डकोपनिषद् 2/4

यहाँ ओंकार ही धनुष है; आत्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। वह प्रमाद रहित मनुष्य द्वारा ही बींधा जाने योग्य है। अतः उसे भेजकर बाण की तरह उस लक्ष्य में तन्मय हो जाना चाहिये।

• • •

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।

(गीता 16/23)

जो वेद शास्त्र विहित विधि को छोड़कर (कामना से प्रेरित होकर) मनमाना काम करते हैं, उनको न तो फल की सिद्धि होती है, न सुख मिलता है, न मोक्ष की ही प्राप्ति होती है।

• • •

मामुपेत्य पुनर्जन्म दु:खालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मान: संसिद्धिं परमां गता:।।

(गीता 8/15)

श्री भगवान के शरणापन्न होने पर दु:खों के कारणभूत क्षणभंगुर पुनर्जन्म को अर्थात संसार को महापुरुष प्राप्त नहीं होते। परम सिद्धि अर्थात् भगवत्-लोक को प्राप्त कर लेते हैं। वहाँ से फिर संसार में आना ही नहीं होता।

• • •

योगयुक्त्या तु तद्भस्म दलाव्यमानं समन्तात:।
शाक्तेनामृतवर्षेण ह्यधिकारान्निवर्तते।।

(बृहज्जाबाल)

जो योगानुष्ठान के द्वारा शक्ति की अमृत वर्षा से उस भस्म को चारों ओर से प्लावित कर देता है वह प्रकृति के अधिकार से मुक्त हो जाता है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक–पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्यौमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

वर्ष : 41 अंक : 3

वैकुण्ठलीलाप्रवरं मनोहरं
नमस्कृतं देवगणैः परं वरम्।
गोपाललीलाभियुतं भजाम्यहं
गोलोकनाथं शिरसा नमाम्यहम्।।

(गर्ग सं 4/8)

हे प्रभो! आप वैकुण्ठपुरी में सदा लीला में तत्पर रहने वाले हैं। आपका स्वरूप परम मनोहर है। देवगण सदा आपको नमस्कार करते हैं। आप परमश्रेष्ठ हैं। गो–पालक की लीला में आपकी विशेष रुचि रहती है – ऐसे मैं आपका भजन करता हूँ। साथ ही आप गोलोकाधिपति को मैं नमस्कार करता हूँ।

जून 2008

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDH YOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक

डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :

समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई–बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	10
3.	लीलाधारी लीला सुनाये – श्री जगदीश राय बंसल	9
4.	योग माया – श्री जनक कुलश्रेष्ठ	13
5.	गीत – श्री भूपेन्द्र 'अंकुश'	15
6.	महर्षि अष्टावक्र : जीवन गाथा – डॉ. विजय सिंह	16
7.	सांख्ययोग, सिद्धयोग तथा ध्यानयोग – पं. कृष्ण कुमार	18
8.	पहली बार श्रीकृष्ण का स्थूल दर्शन – श्री केशवदेव उपाध्याय	21
9.	कालजयी महाप्रभु द्वारा काल पर विजय – श्री वेदव्रत द्विवेदी	26
10.	गुरु शिष्य – भगिनी निवेदिता	28
11.	अष्टांग योग – डॉ. ऋषिराम शर्मा	32
12.	महाभारत में योग विद्या – डॉ. राजकुमारी त्रिखा	36
13.	प्रेम ज्योति – सुश्री निर्मला चन्देल	40

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 130.00
द्विवार्षिक	: रु. 210.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

विशेष लेख

सच्चा अहिंसक कौन?

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग मार्ग की उपासना में और संसार की अन्य उपासनाओं में यही अन्तर है कि योग साधना में साधक साधना करता है किंतु उसका लक्ष्य यही नहीं होता कि वह किसी देवी देवता की पूजा करके उनसे कोई वरदान लेना चाहता है। उसका लक्ष्य तो केवल मात्र इतना ही होता है कि वह अपने आपको उस तत्व में लय कर देना चाहता है जिसका वह ध्यान करता है। मैंने प्रातः काल गीता प्रवचन के समय भगवान के द्वारा अष्टधा प्रकृति का वर्णन किया था। भगवान के शब्दों में–

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।

ये आठ प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, मन बुद्धि और अहंकार है– ये अपरा प्रकृति है। इनमें पंचभूतों में सर्वप्रथम पृथ्वी तत्व है। पृथ्वी तत्व का साक्षात्कार करने वाला योगी गन्ध तन्मात्रा की सीमा तक पहुँचता है। जल तत्व का साक्षात्कार करने वाला रस तन्मात्रा की सीमा तक पहुँचता है, अग्नि तत्व का साक्षात्कार करने वाला रूप तन्मात्र की सीमा तक पहुँचता है। उसके बाद वायु तत्व का साक्षात्कार करने वाला शब्द तन्मात्र की सीमा तक पहुँचता है और उसके बाद मन और बुद्धि तत्वों को पूर्णतया जानकर फिर आत्मतत्व का साक्षात्कार कर लेता है। भगवान ने गीता में इस प्रकार से अपनी अष्टधा अपरा प्रकृति का वर्णन किया है। ये सब साधना योग है। मनुष्य इन तत्वों का साक्षात्कार करने के लिये ध्यान योग का सहारा लेता है। इसके लिये उसे सर्वप्रथम धारणा का अभ्यास करना पड़ता है। धारणा, ध्यान के विषय में मैं तुम्हें अपने व्याख्यानों में बताता रहता हूँ। **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** अपने चित्त को एक लक्ष्य स्थान पर केन्द्रित करना धारणा कहलाता है। मैंने तुम्हें वैशेषिक दर्शन के अनुसार मन का लक्षण कई बार बतलाया है।

'युगपद्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम्' एक समय में जिसको अनेक ज्ञान नहीं होते है वह मन कहलाता है। मन ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा एक समय में एक विषय का ज्ञान प्राप्त करता है इसके बाद दूसरी ज्ञानेन्द्रिय उसे अपनी ओर आकर्षित करती है, फिर उसे दूसरे विषय का ज्ञान होने लगता है। इस प्रकार से मनुष्य का मन रात–दिन भिन्न–भिन्न प्रकार के चिन्तनों के अन्दर लगा रहता है। इसलिए मनुष्य मन की ताकत को पा नहीं सकता। योगियों ने वह रास्ता ढूंढा है जिसमें मन की ताकत की पहचान होती है। मन बहुत शक्तिमान है। साधारण अवस्था में मन चंचल रहा

करता है। किंतु जब वह एक स्थान पर एकाग्र हो जाये तो उसमें अद्‌भुत शक्ति आ जाती है। जिससे मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। भगवान पतंजलि देव ने अष्टांग योग का वर्णन किया है। यम नियम से लेकर समाधि तक आठ अंग हैं। यम से लेकर प्रत्याहार तक पाँच बहिरंग हैं। उनमें अन्तर्मुखी वृत्ति की आवश्यकता नहीं। मनुष्य बाहर से भी साधना करता हुआ लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। यम–नियमों की साधना की आवश्यकता इसलिए पड़ती है, ताकि साधक अपने मन की वृत्तियों को पूर्ण पवित्र बना ले और मन में किसी प्रकार का विकार न रहे। यमों के अन्तर्गत पहला यम अहिंसा है, अहिंसा व्रत के पालन का परिणाम है–

'अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः' अर्थात् जो किसी को दुःख नहीं देना चाहता उसके सम्पर्क में आने वाले हिंसक प्राणी भी वैर भाव छोड़ देते हैं। हमारे प्राचीन हिन्दु जाति के अन्दर जो लोग धर्म प्रधान होते हैं, उनमें अहिंसा का भावना होता है। उनसे कह दिया जाये कि वे किसी को पीट दें, मार दें, तो वे ऐसा नहीं कर सकते।

किंतु यह भी पूर्णरूप से अहिंसा नहीं है। जो लोग कर्मणा, मनसा, वाचा किसी की हिंसा नहीं करते, करना नहीं चाहते वे ही अन्ततः सच्चे अहिंसक बनते हैं। जैनियों का सिद्धान्त रहता है **'अहिंसा परमोधर्मः'** अहिंसा परम धर्म है। भगवान बुद्धदेव ने भी अहिंसा का बहुत बड़ा प्रचार किया। जैन मुनि अपने मुँह पर भी कपड़े की पट्टी बांध लेते हैं। ताकि उनके श्वास–प्रश्वास से छोटे–छोटे कीटाणु भी न मरें। यह उनकी अहिंसा व्रत का परिचायक है। वैसे तो हजारों जीव हमारे हाथ पैर आदि हिलाने तथा मल–मूत्रादि त्यागने से मर जाया करते हैं। उनकी रक्षा की ही नहीं जा सकती, किसी उपाय से उनकी रक्षा नहीं हो पाती। जो लोग इस प्रकार से अहिंसा व्रत को धारण करने वाले हैं, विचार किया जाये कि क्या वे सच्चे अर्थों में अहिंसक हैं? किसी प्रकार से उनके मन में उद्वेग पैदा कर दिया जाये तो वे लोग मरने मारने को तैयार हो जाते हैं। इसलिए उन लोगों से भी पूर्णरूप से अहिंसा का पालन नहीं होता है। हर व्यक्ति से अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य द्वैत–दर्शन करता है तब तक वह अहिंसक नहीं बन सकता। **'मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्नाः'** हरेक व्यक्ति के मन में न्यारी–न्यारी मतियाँ होती हैं, इसलिए एक दूसरे की बात उसे पसन्द नहीं आती। हमारा योगदर्शन यह बतलाता है कि मनुष्य अपने जीवन में दुःखों से छूट नहीं पाता वह उनसे छूटने का उपाय करता है किंतु दुःख उसे लगे रहते हैं। योगदर्शन का सूत्र है–परिणामताप संस्कार– **'दुःखैः गुणवृत्ति विरोधाच्च सर्वमेव दुःखम् विवेकिनः'**। कुछ परिणामी दुःख हैं, कुछ तापज दुःख हैं तथा कुछ संस्कार दुःख होते हैं। उतावले में ऐसा कोई काम कर दिया जिसके लिए बार–बार पछताना पड़े। ऐसा परिणामी दुःख होता है। कुछ तापज दुःख होते हैं। ऐसा कोई कर्म कर बैठता है जिसके परिणाम में वह तपता रहता है। मन में कोई संस्कार बैठ जाता है वह मन से निकलता नहीं है। ऐसा संस्कारी दुःख होता है। किसी के मन में भय के संस्कार आ जाते हैं। या और किसी प्रकार से भ्रम के संस्कार आ जाते हैं। इसके साथ–साथ एक और बहुत बड़ा दुःख है वह है गुणवृत्ति विरोध का। संसार में

ऐसा कोई व्यक्ति नही होगा जिसका किसी से गुणवृत्ति विरोध न हो। किसी का स्वभाव कैसा है तो किसी का कैसा? सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण ये त्रिगुणात्मक स्वभाव मनुष्य के होते है। परमात्मा की इतनी विचित्र शक्ति है- इन तीनों का ऐसा विचित्र बटवारा किया है कि किसी का भी स्वभाव संसार में एक दूसरे से नहीं मिलता। एक बात होती है, छोटी शक्ति बड़ी शक्ति के आधीन रहती है। पिता कहता है तू मेरा पुत्र है, तू मेरी आज्ञा का पालन कर। पुत्र अपना धर्म मानकर आज्ञा का पालन करता है किंतु उसे पिता की सारी हरकतें पसन्द नही आती। गुरुदेव शिष्य को आज्ञा देते है, तुम ऐसा करो। शिष्य आज्ञा का पालन करते है किंतु कोई-कोई शिष्य ऐसे भी होते है जो अपने मन में सोचते है कि गुरुदेव ने यह आज्ञा दी, ऐसी आज्ञा नहीं देनी चाहिए। पति और पत्नी में यद्यपि अभेद सम्बन्ध होता है किंतु वृत्तियाँ पति पत्नी की भी अलग-अलग होती हैं। उनका भी स्वभाव नही मिलता। संसार में इतने मित्र हैं, प्रेमी है किंतु स्वभाव किसी दूसरे से नहीं मिलता। किसी का आपस में सच्चा प्रेम नही होता। आपस में विकल्प रहा करता है। बड़े-बड़े विद्वानों का भी आपस मे गुणवृत्तिविरोध रहा करता है। मनुष्य जीवन में गुणवृत्तिविरोध का दुःख बहुत बड़ा दुःख है। दुःख द्वैत में रहा करता है। जहाँ द्वैत भासता है वहाँ विरोध रहता है। मैंने तुम्हें कई बार अपने व्याख्यानों में बतलाया है कि यम-नियम का पालन योगी के जीवन में अवश्य होना चाहिए। यदि कोई एक भी यम-नियम का पालन कर लेता है तो वह धीरे-धीरे मुक्ति के द्वार तक पहुँच जाया करता है। यदि योगी अहिंसा व्रत का ही पालन करना शुरू कर दे तो योग समाधि की ओर बढ़ जाता है।

किसी को मारना-पीटना ही हिंसा नहीं कहलाता। मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों प्रकार से हिंसा होती है। यदि कोई किसी को कड़वी वाणी बोलता है तो उससे दूसरे के मन में क्षोभ होता है। यह डण्डा मार देने से भी ज्यादा दुःख देता है। जिसके लिए कड़वी वाणी का प्रयोग होता है उसके मन में उद्वेग होता रहता है। उसके मन में प्रतिकार की भावना बनी रहती है वह सोचता रहता है कि इसने मुझे ऐसा कहा है, समय आने पर इसका अवश्य बदला लूंगा। इसलिए जो मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को भी दुःख देना नही चाहता वह सच्चा अहिंसक होता है किंतु ऐसा अहिंसक योग-समाधि में पहुँचकर ही बन पाता है; अन्यथा सब हिंसक ही होते हैं।

दिल्ली में एक बार विश्वयोग सम्मेलन हुआ था उसमें हमें भी बुलाया गया था। उसमें जैन मुनि सुशील कुमारजी भी आये थे। वे जैन-मुनि कहलाते हैं। विचार उनके बहुत अच्छे हैं। उस सम्मेलन में एक सवाल उठा कि योग-यूनिवर्सिटी कहाँ कायम की जाये? सम्मेलन के अध्यक्ष विदेशी थे उनका नाम क्रिस्टोफर हिल था। उनका मानना था कि योग यूनिवर्सिटी भारत से बाहर किसी अन्य देश में स्थापित की जाये। मुझे भी बोलने का अवसर मिला मैंने कहा-योग भारत की प्राचीनतम विद्या है। मैं सत्य कहता हूँ जितने भी विदेशी यहाँ बैठे हुए है उनमें कोई भी योग की ठीक-ठीक परिभाषा बतला दे। मैंने कहा-योग यहाँ के ऋषियों की चीज है। इसलिए योग यूनिवर्सिटी भारत में ही होनी चाहिए। यदि इसका थोड़ा बहुत प्रचार विदेशों में भी हुआ तो वह यहीं से गया है। हमारे शास्त्रों का लेख है-

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।

भारतवर्ष के तपस्वियों से, ब्राह्मणों से ज्ञान–विज्ञान सारे विश्व में फैलता है। संसार के लोग यहाँ के विद्वानों से, योगियों से उस ज्ञान को प्राप्त करते हैं। उस सम्मेलन में एक और भी प्रस्ताव आया। वह किया था सुशील कुमार जैन ने। वे कहने लगे– इस विश्वविद्यालय का नाम योग यूनिवर्सिटी क्यों रखा जाये। इसका नाम अहिंसा–यूनिवर्सिटी होना चाहिए। निर्णय–समिति के हम सात सदस्य थे। कनखल वाले महामण्डलेश्वर स्वामी प्रकाशानन्द जी तथा अन्य कई प्रतिष्ठित योगी थे। जब प्रस्ताव आया कि इस विश्वविद्यालय का नाम योग विश्वविद्यालय ही क्यों हो? इस पर कमेटी के सदस्य मेरी ओर देखने लगे कि मैं इसका जवाब दूं। मैंने उत्तर दिया– इसका नाम अहिंसा यूनिवर्सिटी नहीं योग यूनिवर्सिटी ही होना चाहिए। अहिंसा योग का एक अंग है। योग अंगी है। अंगी के अन्दर अंग अपने आप आ जाता है। किसी को हम बुलाते हैं इधर आओ। तो उसके साथ में ही उसके हाथ भी आयेंगे, पैर भी आयेंगे, वे सब अपने आप उसके साथ आ जायेंगे। क्योंकि ये सब उसके अंग हैं। इसलिए इस यूनिवर्सिटी का नाम योग यूनिवर्सिटी होना चाहिए। अहिंसा यूनिवर्सिटी नहीं। अस्तु। मैं जो बात तुम्हें समझा रहा था वह यह थी कि यदि मनुष्य अहिंसा का पूर्णव्रती बन जाता है– पूर्णरूपेण अहिंसक हो जाता है, तो उसके लिये हमारे योग शास्त्र में लेख है– **अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।** अहिंसा में पूर्ण प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंसक जीव भी वैरभाव त्याग देते हैं। जिन साधकों के अन्दर महाभावों का उदय हो जाता है। उनमें तेज ही तेज रहा करता है। आनन्दानुगत समाधि के अन्दर महाभावों का उदय होता है। जिसका वे ध्यान करते हैं, वे सर्वत्र दिखाई दिया करते हैं–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

आनन्दानुगत में योगी सर्वत्र तेज ही तेज देखा करता है।

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि'

प्राणीमात्र को जो अपने अन्दर देखता है और प्राणीमात्र में जो अपने को देखता है ऐसा योग युक्तात्मा योगी सम दर्शन वाला होता है। वहाँ पर होता है अद्वैत। योगी देखता है, इसमें भी मैं हूं, सर्वत्र मैं ही हूं ऐसा देखा करता है। योगी ऐसा कथन मात्र या भावना मात्र से नहीं यथार्थ में देखता है। योग समाधि में ऐसी अनुभूति होती है। अस्मितानुगत समाधि में योग अपने हजारों चित्त बनाकर हजारों के पास एक साथ चले जाते हैं। वह बात और है किंतु अपनी आत्मसत्ता के अन्दर सबको देखना और बात है। ऐसा योगी सर्वत्र समदर्शन वाला होता है। वह सर्वत्र अपनी सत्ता को देख रहा है। फिर वह किस से विरोध करेगा? **'तत्र कः मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'** एकत्व दर्शन करने वाले योगी को मोह (द्वेष) और शोक कहाँ? वस्तुतः ऐसी स्थिति में पहुँचकर ही योगी सच्चा अहिंसक होता है या जहाँ पर महाभावों का उदय हो जाता है वहाँ पर भी वह पूर्ण अहिंसक बन जाता है। महाभावों का उदय कहाँ होता है? देखो! अभी मैं साधन योग की बात कर रहा हूँ सिद्धयोग की नहीं। आज के व्याख्यान का प्रकरण कुछ इस

प्रकार का चल पड़ा है. मैं तुम्हें बताना यह चाह रहा हूँ कि योगी को पहले यम-नियमों की साधना कर लेनी चाहिए। क्योंकि ऐसा न करने पर योगी के रास्ते में अन्तराय आ जाया करते हैं। **'काम एष क्रोध: एष रजोगुणसमुद्भव:'** यम-नियम का पालन करने वाले के मार्ग में बाधायें नहीं आती। अहिंसा व्रत का मनसा, वाचा, कर्मणा का पालन करने वाले को कामनायें बाधा नहीं पहुँचा पाती। देखो! तुम किसी को कटु वाणी बोलते हो। दूसरा व्यक्ति उसका उत्तर नहीं देता। वाणी से कुछ नहीं कहता क्योंकि तुम धनवान हो, बलवान हो, ताकत वाले हो किंतु उसके मन में दु:ख तो होता ही है। और यदि वह कमजोर मन वाला है तो कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा अन्यथा मन की ताकत वाला है तो बाहर से कुछ न कहने पर भी उसका मन अपना प्रभाव कर जायेगा। मैं तुम्हें अमृतसर में पढ़ने वाले दो विद्यार्थियों की घटना सुनाया करता हूँ। इनमें से एक श्री प्रभुजी का योग दीक्षित बच्चा था। दूसरे लड़के के द्वारा उसकी पुस्तकें चुराये जाने के कारण मन के क्षुब्ध होने से चुराने वाले लड़के की विक्षिप्तता के बारे में मैं तुम्हें बताया करता हूँ। उस लड़के के पागल हो जाने पर प्रभुजी ने कहा था-देखो! यह हिंसा हो गई। योगी को इतना क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि मन ताकत वाला है तो इस प्रकार से मनसहिंसा हो जाया करती है। इसलिये जो व्यक्ति ध्यानाभ्यासी है उसे दूसरे का अहित चिन्तन नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसके चिन्तनमात्र से दूसरे का अनिष्ट हो जाया करता है। तुमने हरिहरानन्द जी की घटना कई बार मुझ से सुनी होगी। हरिहरानन्द श्रीप्रभु जी के बच्चे हैं जो आज भी शीशगिरी पहाड़ी पर समाधिस्थ हैं। तीन महीने में समाधि से उठा करते हैं। हरिद्वार में एक बार कुम्भ के मौके पर सभी गुरुभाई बहिन हठ करने लगे कि हरिहरानन्द के दर्शन करा दें। श्री प्रभुजी **'अमानी मानद: मान्य:'** हैं वे अपने बच्चों को मान दिया करते हैं। प्रभुजी ने कहा-तुम ध्यान में बैठकर उनसे कह दो-श्री प्रभुजी का हुकुम है चले आओ। वे समाधि से उठकर चले आये। वे ध्यान के नशे में 'नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन-रात जब योग आनन्दानुगत समाधि में होता है तो उसमें महाभावों का उदय हो जाया करता है। उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती।

हरिहरानन्द जी पहाड़ से उतरते हुये एक गाँव के पास किसी वृक्ष के नीचे बैठ गये। नवयुवक थे ही। जब योगी समाधि लगाता है तो उसके शरीर की वही अवस्था रहती है जो समाधि से पहले होती है। क्यों? वह खानपान करता नहीं है, मल-मूत्र का त्याग नहीं करता, सोता नहीं है केवल खेचरादि की क्रियाओं से अमृतपान करते रहते हैं। हरिहरानन्द ध्यानावस्था में ही वृक्ष के नीचे लेटे हुये थे। एक ठाकुर साहब आये। वह क्रोधी, अहंकारी स्वभाव का था। हरिहरानन्द से कहने लगा-अरे! नग्न पड़ा है यहाँ पर? उठ यहाँ से। जब उन्होंने बात नहीं सुनी तो उनके शरीर पर तीन-चार बेंत मार दिये। चोट लगते ही वे समाधि से उठे- उसे देखकर कहने लगे- अच्छा! तू ही गिर जा, इसी समय। वह वहीं गिर गया और उसका शरीरान्त हो गया। श्री प्रभुजी हरिद्वार में भोजन कर रहे थे। वे कहने लगे- अरे, अरे देखो! हरिहरानन्द ने यह क्या कर दिया। मैंने पहले ही कहा था कि वह यहाँ आने लायक नहीं है। अब उससे कह दो वहीं वापिस चला जाये। हमारे कुछ गुरु भाई गये और वहाँ जाकर सारी हकीकत देखी। उन्हें श्री प्रभुजी की

वापिस जाने की आज्ञा सुनाकर वापिस भेज दिया। यह क्यों हुआ? यह यूँ हुआ– सिद्धान्त है 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' योगी जब समाधि से उठ जाता है तब वह अपनी मूल वृत्ति के अनुसार चेष्टा करता है। 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि' ज्ञानी लोग भी अपनी प्रकृति के अनुसार वर्तते हैं। श्री प्रभुजी कहा करते थे जो लोग गुरुदेव के थपेड़े खाकर यम–नियमों की साधना नहीं करते वे उल्टे–पुल्टे काम किया करते हैं। और अपने आप को पतन की ओर ले जाया करते हैं। वे किसी को शाप देंगे, मार देंगे। इससे उनका पुण्य क्षीण हो जायेगा। जो दण्ड देने लायक नहीं है उनको भी दण्ड देने पर तो पुण्य क्षीण होगा ही होगा। इसलिये योग–दर्शन में भगवान पतंजलि देव जी ने सर्वप्रथम यम–नियमों की साधना का उपदेश दिया है। उनमें यमों के अन्दर अहिंसा को सर्वप्रथम रखा। अहिंसा व्रत का पालन करने वाला मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को दुःख नहीं देता। तुमने गौरांग महाप्रभु की एक घटना सुनी होगी। गौरांग महाप्रभु नदी से स्नान करके आ रहे थे। रास्ते में एक मुसलमान ने उन पर थूक दिया। वह दोबारा स्नान करने चले गये। इस प्रकार वह मुसलमान उन पर कई बार थूकता रहा और वे नहाते रहे। सौ बार जब ऐसा हुआ तो उनकी अहिंसक व अक्रोध वृत्ति से प्रभावित होकर वह मुसलमान उनका अनन्य भक्त बन गया। मुझे श्री प्रभु से सम्बन्धित घटना याद आई। एक बार श्री प्रभुजी ऋषिकेश से आगे ब्रह्मपुरी के जंगलों में अपने शिष्यों के साथ घूमने गये। श्री प्रभुजी ने पहले कभी वहाँ निवास किया था। आजकल तो ब्रह्मपुरी में भी पक्के आश्रम आदि बन गये हैं। हमारे गुरु भाई श्री मुल्खराज जी भी श्री प्रभुजी के साथ थे। वे तुरीयस्थिति में रहा करते थे। महाभावों का उदय उनके अन्दर हो चुका था। उनकी स्थिति यह थी–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

वे हर जगह रोम–रोम में श्री प्रभुजी के दर्शन किया करते थे। स्वयं भी ध्यान करते–करते उनमें लय हो जाया करते। वे देखते थे कि उनकी चार भुजायें हो गई हैं। वहाँ जंगल में जाते हुये सामने से एक चीता निकल आया। हमारे गुरु भाई बहिन घबरा से गये और कहने लगे– 'प्रभु जी! चीता आ गया, चीता आ गया श्री प्रभुजी ने मुल्खराज जी से कहा– 'राजे! देखो यह क्या आ रहा है' मुल्खराज जी झट से चीते के पास पहुँच गये और उस पर हाथ फेरने लगे व प्यार करने लगे। फिर कहने लगे– प्रभुजी! आपका बच्चा है, आपका बच्चा है। यूँ ही बार–बार कहते रहे। प्रभुजी कहने लगे– 'राजे! इसे छोड़ दे। थोड़ी देर में चीता अपने आप दूर चला गया। इसे कहते हैं– '**अहिंसाप्रतिष्ठायाम् तत्संनिधौ वैरत्यागः।**' जिनकी अहिंसा व्रत पर पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है वे ही ऐसा कर सकते हैं। किंतु यह स्थिति बिना योग समाधि के नहीं आया करती। तुमने भगवान शंकर के चित्र देखे ही हैं। उनके शरीर पर अनेक साँप लिपटे रहते हैं। यह उनकी अहिंसा वृत्ति के कारण है। ब्र. गोपालानन्द जी जब श्री प्रभुजी के पास आ गये तो पीछे से उनके पिता जी उन्हें लेने के लिये आ गये। उस समय ब्रह्मचारी जी का नाम राम गोपाल था। वह (पिता) प्रभुजी के पास आकर कहने लगे– 'महाराज! हमारा एक ही लड़का है। आप इसे घर वापिस

भेज दो।' श्री प्रभुजी कहने लगे तुम्हारा लड़का है, तुम उसे अपने साथ लिवा ले जाओ। उस समय ब्र. गोपालानन्दजी ध्यान में बैठे हुये थे। जब उनके पिताजी उस कमरे में पहुँचे तो देखा कि एक भयंकर काला सर्प उनके शरीर पर घूम रहा है। दो तीन बार पिता ने अपने लड़के के पास जाने की कोशिश की किंतु सर्प फुंसकार मारता रहा। ब्रह्मचारीजी के पिता गोविन्दशरण सोचने लगे। आश्चर्य की बात है यह भयंकर सर्प मेरे लड़के को कुछ नहीं कर रहा है और मुझे काटने को दौड़ता है। इस बात से प्रभावित होकर उन्होंने ब्रह्मचारीजी को सदा के लिये श्री प्रभुजी के चरणों में रहने की अनुमति दे यह सब अहिंसा वृत्ति का परिणाम था। इसलिए देखो! अपने आप को योगी बनाने की चेष्टा करो। जब तक अन्तर्मुखी वृत्ति नहीं बनती तब तक **'अन्धेन नीयमाना: यथा अन्धा:'** वाली बात रहती है। बस! इस समय अपनी वाणी को यहीं विराम देता हूँ। सभी को बार–बार आर्शीवाद।

लीलाधारी लीला सुनावे !

लीला धारी लीला सुनावे यू अद्भुत रूप बनावे,
अर्जुन खिल–खिल हर्षावे न्यू भक्तों के बस में आवे।

जब भगतन पर दया दिखाई तब मोहिनी रूप बनाई,
देवन को अमृत छकाई छल कपट से बात बनाई।
पर छल कपट नहीं मोहे भावे।। न्यू भक्तो

जब पिता ने प्रहलाद सताया जहर का प्याला पिलाया,
खौलते तेल में डलवाया फिर खम्ब गर्म तपाया।
इस मौके पर आवेश आवे।। न्यू भक्तो——

जब परीक्षा बली की ठानी तीन पग भूमि थी मांगी,
नहीं बली ने गुरु की मानी था राजा दिल रो दानी।
मैंने कहते आश्चर्य आवे।। न्यू भक्तों——

जब मेरा रूप नारद ने चाहा मैंने हितकर मुखड़ा बनाया,
उसे उबाल क्रोध का आया मुझे श्राप में था लिपटाया।
उसकी गाली मुझे सुहावे।। न्यू भक्तो——

मैं सीता वियोग में रोया मूर्छा वाली रात नहीं सोया,
मेरा भगत मृग बन आया मुझे पिछे–पिछे दौड़ाया।
वो मोक्ष की अर्ज लगावे।। न्यू भक्तो——

मारीची मुड़–मुड़ भागे आओ राम थोड़ी आगे,
मेरा सोया भाग अब जागे अब लागे तीर अब लागे।
परपन्चा छोड़ पछतावे।। न्यू भक्तो——

जगदीश राए बंसल
'अधम'
गोहाना मंडी

योग का स्वरूप

आचार्य (डॉ.) दासलाल ब्रह्मचारी

आध्यात्म शास्त्रों में योग विद्या को दुःखों की निवृत्ति एवं मुक्ति के एकमात्र उपाय के रूप में वर्णित किया गया है। योग के विषय में अच्छे-अच्छे विद्वान एवं शास्त्रवेत्ता भ्रमित रहा करते हैं। बहुधा लोग योग को क्रिया के रूप में ही मानते हैं और कहा करते हैं कि योग क्रिया मात्र है. परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है। योग को आध्यात्म विद्या के रूप में ही माना गया है। गीता एक योग शास्त्र है और भगवान ने इसे अलौकिक विद्याओं का राजा कहा है। संसार में गुह्यतम ज्ञान योग ही है। और योग के अतिरिक्त ऐसी को वस्तु नहीं जो जीव को पवित्र कर सके। योग विद्या को प्रत्यक्ष अनुभूति के द्वारा आत्मसात् कर सकते हैं। योग को ही वेदों एवं उपनिषदों में ब्रह्म विद्या, परा विद्या, आध्यात्म विद्या आदि नामों से पुकारा गया है।

गीता एक सम्पूर्ण योगशास्त्र है। इसमें योग की परिभाषा अनेक प्रकार से बतलाई गयी है। कहीं पर इसकी परिभाषा करते हुए '**समत्व योग उच्यते**' एवं कहीं पर '**योगः कर्मसु कौशलम्**' कह कर के इसकी परिभाषा की गयी है। कहीं दुःखों के संयोग को सदा के लिए दूर कर देने वाली विद्या को योग कहा है। इस प्रकार से योग की अनेक प्रकार से परिभाषा गीता में की गयी है।

पतंजलि दर्शन में भगवान पतंजलि ने '**चित्तवृत्ति निरोधः योगः**' कहकर योग की परिभाषा की है। और योग की पूर्णतः सिद्धि पा लेने पर योग अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है-ऐसा योग दर्शन मानता है। अन्तःकरण और आत्मा दोनों की समस्त रूप से सिद्धि अथवा विकार रहित होने पर कैवल्य लाभ होता है।

जीव के अच्छे बुरे संस्कार ही अन्तःकरण का मल एवं विकार हैं। ध्यान योग से अन्तःकरण को पूर्णतया निर्मल बनया जा सकता है। इस प्रकार से श्रीमद्भगवद् गीता, योग दर्शन एवं अन्य योगशास्त्रों में योग की विभिन्न परिभाषायें बतायी गयी हैं।

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अनेक स्थानों पर योग के स्वरूप का निरूपण किया है। परिभाषायें किसी वस्तु की अनेक हो सकती हैं किंतु स्वरूप एक ही होता है और वह स्वरूप ही तत्व के रूप में पहचाना जाता है। योग का स्वरूप अविनाशी है गीता के चौथे अध्याय के प्रथम श्लोक में भगवान कहते हैं – **इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्** – अर्थात् सर्वप्रथम मैंने इस अव्यय एवं अविनाशी योग का ज्ञान सूर्य को दिया था। इसी प्रकार से नवें अध्याय में भी योग के लिए – **प्रत्यक्षावगमम् धर्म्यम् सुसुखं कर्तुमव्ययम्** – कहते हुए भगवान ने योग का अविनाशी स्वरूप बताया है।

दूसरे शब्दों में जो इस अमर योग विद्या को आत्मसात कर लेता है वह भी अमर पद को पा जाता है। जो योगी योग की पूर्णता को पा लेता है। वह ब्रह्म स्वरुप होकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्म भूतोधिगच्छति:' इस प्रकार से ऋषि जन अकल्मय पापरहित होकर ब्रह्म में समा कर ब्रह्म स्वरूप हो जाते है। निर्वीज समाधि की पूर्णता एवं प्रतिष्ठा होने पर योगी अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। इसी अवस्था में योगी गुणातीत अवस्था को प्राप्त होता है गीता में भगवान ने अर्जुन को निस्त्रैगुण्यो भर्वाजना कह कर इसी स्वरूपस्थिति का नाम ही योग है अवस्था को प्राप्त करने का उपदेश दिया है यही अवस्था मोक्ष कहलाती है। वेदान्त शास्त्र में इसे ही अद्वैत सिद्धि का नाम दिया है।

साधक को अध्यात्म जगत में प्रवेश पाने हेतु ध्यान योग में प्रवेश पाना आवश्यक हो जाता है। सिद्ध सद्गुरु से योग की दीक्षा व उपदेश पाकर दृढ़ प्रतिज्ञ होकर इस मार्ग पर चलना होता है। ध्यान योग के माध्यम से मन की एकाग्रता प्राप्त की जाती है। मन की एकाग्रता ही अध्यात्म साधना का मूलाधार है पतंजलिदेवजी ने ध्यान योग से प्राप्त समाधि के विभिन्न अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया है। ध्यान योग से शरीर के रोम–रोम में दिव्यता आती है। एक जैसे सात्विक विचार के साथ प्राणों का तेजस प्रवाह मन बुद्धि को उत्तरोत्तर आत्म तेज से आलोकित करता चला जाता है जो योगी कई–कई घंटे तक ध्यान योग की प्रगाढ़ अवस्था में चले जाते है उस समय उनके रोम–रोम से विद्युत सदृश प्रकाश युक्त परमाणु निकला करते है। ऐसे योगी जब समाधि से उठ जाते है उसके बाद भी कई घंटो तक उनके प्रत्येक अंग से बिजली के करंट की तरह विद्युतीय शक्ति का प्रवाह चलता है ध्यान से उठने के बाद ऐसे योगी किसी दूसरे व्यक्ति का स्पर्श भी कर ले तो बड़े जोर से बिजली का जैसा झटका लगता है। हमनें बहुत से ऐसे साधक साधिकाओं को देखा है। ध्यान योग की पहली उपलब्धि संकल्पसिद्धि है। चित्त चेतन तत्व पर ठहरने लगे तो चेतन शक्ति की सिद्धिया साधक में आने लगती है। सगुण उपासना में साधक अपने चित्त को इष्ट देव या गुरु देव में समाहित कर लेता है तो लयता के प्रभाव से ईष्ट की शक्तिया योगी में स्वत: आने लगती है। यही ध्यान योग का अभ्यास योगी को अन्ततोगत्वा अपने ईष्ट के सारूप्य अवस्था को प्राप्त करा देता है जिससे योगी में ईष्ट देव की शक्ति आकृति एवं स्वभाव का समावेश हो जाया करता है ध्यान योग अध्यात्म ज्ञान है। इसे साइन्स ऑफ सोल कहा जाता है। ईष्ट की तद्रूपता को प्राप्त करने का उपाय ध्यान योगी ही श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान ने इसी ब्रह्म में द्रवता के विधान को स्थान–स्थान पर समझाया है। ईष्ट में तद्रूपता पा जाने पर योगी के अज्ञान आदि क्लेश एवं सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। जो साधक अध्यात्म शास्त्रों का केवल पठन–पाठन करके शास्त्रज्ञ तो हो जाता है किंतु ध्यान योग का अभ्यास नहीं करता वह योग विज्ञान को समझ नहीं सकता। यही कारण है कि शास्त्रों के पारंगत

विद्वान ध्यान योग के विज्ञान को न जानने के कारण योग विद्या की उपेक्षा करते देखे जाते हैं।

योग विद्या मनुष्य के निरंतर चेतना को विकसित करने का विज्ञान है। योग सूत्रों पर भाष्य करते हुए व्यास देव जी महाराज ने चेतना के आधार पर प्राणियों के चित्त की पांच भूमिकाएँ बतायी है जिसमें प्रथम मूढ़ अवस्था है। इस अवस्था वाले प्राणी की चेतना बहुत कम विकसित होती है। ऐसे प्राणी तमोगुण प्रधान होते हैं। इन प्राणियों में चिंतन शक्ति का विकास अत्यल्प होता है। पेड़–पौधे आदि वनस्पति वर्ग के प्राणी अथवा तमोप्रधान अन्य प्राणी चित्त की अविकसित अवस्था के प्राणी होते हैं। दूसरी श्रेणी क्षिप्तावस्था के प्राणियों की होती है। ऐसे शरीरधारी प्राणी तमोगुण की प्रधानता के कारण उच्च विचारों से युक्त नहीं होते। तीसरी अवस्था विक्षिप्तावस्था के प्राणियों की है। सामान्य मनुष्य इस श्रेणी में आता है। रजोगुण की प्रधानता वाले मनुष्य इस वर्ग में आते हैं। ऐसे प्राणी अज्ञान जन्य कर्मों में प्रवृत्त रहा करते है एवं दुःख पाते हैं किंतु मनुष्य के चित्त में सतोगुण की वृद्धि होकर तमोगुण दब जाये तो वह अध्यात्म मार्ग का अनुशीलन करने वाला बन जाता है। सतोगुण की वृद्धि कर लेने पर चित्त एकाग्र रहने लगता है एवं अन्तःकरण में प्रकाश व ज्ञान का उदय होने लगता है। यदि ऐसे अध्यात्म वृत्ति वाले साधक को योगी गुरु का सानिध्य मिल जाता है तो वह अपने अध्यात्म पथ एवं ध्यान योग की साधना में आरूढ़ होकर निरंतर आत्म उन्नति पाता चला जाता है। योग की उच्च भूमिकाओं में प्रवेश पा जाने के कारण साधक का चित्त लम्बे समय तक एकाग्रावस्था में रहता है और वह संप्रज्ञात समाधि की भिन्न भूमिकाओं में आरूढ़ होकर आत्म साक्षात्कार की ओर बढ़ जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद पतंजलि देवजी ने बताये हैं। उनका क्रमशः साक्षात्कार करता हुआ योगी पूर्ण रूप से चित्त शुद्धि कर लेता है। ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले योगी मंत्रदृष्टा बनकर ऋषि पद को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था के योगी चित्त तत्व का साक्षात्कार वाले होने के कारण अपने अनेक चित्त एवं शरीर बना लिया करते है। इन शरीरों में रहते हुए योगी एक तो अपने संपूर्ण शुभाशुभ कर्मों–योग संस्कारों का भुगतना कर लेता है तथा योग के अमर विद्या का प्रकाश एवं संचार अपने अंदर करता है। योगी को फिर ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। जिस प्रज्ञा के प्रभाव से योगी को सत असत पुरुष प्रकृतियां जड़–चेतन का ज्ञान होने लगता है इसे ही विवेक ज्ञान या विवेक ख्याति योग शास्त्रों में व उपनिषदों में कहा गया है। यही विवेक ज्ञान आत्म साक्षात्कार का हेतु कहा गया है बिना समाधि के अभ्यास के शास्त्रज्ञान फलवती नहीं होता। योग विद्या मनुष्य को अणु से विभु बनाने वाली विद्या है। पशु से नर फिर नर से नारायण बनाने वाली विद्या योग ही है। योग के बल के समान दूसरा कोई बल नहीं है। ऐसा महाभारत में कथन है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों में सर्वत्र योग विद्या की अमरता को मुक्त कण्ठ से गाया है।

□□□

योग माया

प्रेषक–जनक कुलश्रेष्ठ

सत्, रज और तम इन तीनो गुणो की साम्यावस्था को अव्यक्त मूल प्रकृति कहते है। चेतन तत्व ब्रह्म मे जब ''एकोऽहम् बहुस्यामि'' का ईक्षण (सकल्प या इच्छा) हुआ तो जड अव्यक्त मूल प्रकृति मे क्षोभ उत्पन्न हुआ। जड़ तत्व मे व्यवस्थापूर्वक क्रियाचेतन तत्व की सन्निधि से होती है। चेतन तत्व अर्थात उस ब्रह्म के सन्निधि मात्र से जड़ तत्व अर्थात् गुणों में क्षोभ उत्पन्न होकर विषमता उत्पन्न होती है। यही उस ब्रह्म की योग माया है। उस अव्यक्त मूल प्रकृति को ही आदि गुरु शंकराचार्य जी ने योग माया से व्यक्त किया है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजम व्ययम्।।

गीता 7/25

भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते है कि अज्ञानी पुरुष मेरी इस योगमाया के मेरे स्वरुप को नही जानते है। परंतु अस्मितानुगत समाधि की अन्तिम अवस्था मे पहुच कर योगी उस सूक्ष्माति सक्ष्म ब्रह्म तत्व की अनुभूति करते है, जिसे विवेक ख्याति कहा जाता है।

''विवेक ख्यातिरविप्लता हानोपाय''।

योगी सम्प्रज्ञात समाधि की वितर्कानुगत, विचारानुगत तथा आनन्दानुगत समाधियों की सिद्धि करके अस्मितानुगत समाधि मे प्रवेश करता है। तब उसको अस्मिता का साक्षात्कार होता है अर्थात् पुरुष (आत्मा) मे प्रतिबिम्बित चित्त का स्पष्ट रूप से अनुभव होने लगता है। प्रारम्भ मे अह वृत्ति रहती है। शनैः शनैः अभ्यास करने से यह वृत्ति भी समाप्त हो जाती है। इस स्थिति मे आकर योगी पुरुष (आत्मा) और चित्त (प्रकृति) के भेद को भली–भांति जान लेता है इस अवस्था को ही विवेक ख्याति कहते है। इसे ही विवेक ख्या अर्थात् विवेक ज्ञान कहते है। विवेक के जाग्रत हो जाने पर योगी यह जान लेता है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि प्राकृतिक तत्व मुझ चेतन पुरुष (आत्मा) से भिन्न है। उक्त प्राकृतिक तत्व विकारी और परिणामी है, जबकि मै चेतन तत्व (आत्मा) अविकारी और अपरिणामी है। अवस्था मे आकर योगी उस सूक्ष्मगति सूक्ष्म ब्रह्म तत्व की अनुभूति करता है।

इस योगमाया के अन्तर्गत ही महामाया और माया समाहित है। महामाया जीव को ऊर्ध्वगति प्रदान करती है और माया जीव को अधोगति प्रदान करती है।

ब्रह्म तत्व के ईक्षण करने से गुणो की साम्यावस्था मे विषमता उत्पन्न होती है। इस विषमावस्था का प्रथम विषम परिणाम महतत्व है। यही उस ब्रह्म का लिङ्ग रुप है। और यही सृष्टि का बीज रूप है। इसी से सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

यही महातत्व योग दर्शन के अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि चित्त कहलाता है। सांख्यदर्शन के अनुसार समष्टि बुद्धि और व्यष्टि बुद्धि कहलाती है। वेदान्त मे समष्टि चित्त को हिरण्यगर्भ और व्यष्टि चित्त को तेजस कहते है। गीता मे इसी को महद ब्रह्म कहा है और ब्रह्म उस महद्ब्रह्म मे चेतन रूप बीज प्रदान करता है।

मम योनिर्मह्द्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्

ब्रह्म की निज शक्ति योगमाया के अनुसार ही ब्रह्म की अध्यक्षता में प्रकृति के रूप में जगत की रचना करती है।

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते।।

प्रकृति अर्थात् ब्रह्म की निजशक्ति योगमाया ही सृष्टि की रचना करती है। ब्रह्म के ईक्षण करने से प्रकृति में प्रथम वर्तन होता है अर्थात् हलचल होती है। उसके पश्चात् प्रकृति के गुणों में परिवर्तन होता है। इसी परिवर्तन के परिणाम स्वरूप महत्तत्व, अहंकार और अहंकार के तमोगुण से पंच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) उत्पन्न होती है। इन तन्मात्राओं से पंच महाभूतों– आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। कालान्तर में जब महाप्रलय का समय उपस्थित होता है, तब इस प्रकृति में विपरिवर्तन होता है अर्थात् सृष्टि अपनी मूल अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती है। इस प्रकार प्रकृति में वर्तन, परिवर्तन तथा विपरिवर्तन ब्रह्म की निजशक्ति की ही अध्यक्षता में होती है।

इसी योगमाया का एक निम्न स्वरूप माया है। मा अर्थात् जो, या अर्थात् है। तात्पर्य यह है कि "जो" है वह "है" जैसा भासमान होता है। यथा मृग मरीचिका, सीप में चांदी, रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है।

एक वस्तु की दूसरी वस्तु में मिथ्या प्रतीति 'विवर्त' कहलाती है। इस प्रतीति को उत्पन्न करने वाला तत्व "माया" है। यह माया अपनी आवरण और विक्षेप दो शक्तियों द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को ढक करके जगत की सृष्टि करती है।

विक्षेप शक्ति– जिस प्रकार आकाश में चंचल वायु उत्पन्न होती है। उसी प्रकार उस ब्रह्म में मूल माया प्रतीत होती है। परन्तु वायु की चंचलता के कारण आकाश की निश्चितता भंग नहीं होती है। उसी प्रकार माया के कारण ब्रह्म की निर्गुणता, निराकारता में कोई अन्तर नहीं आता है। माया का स्वरूप वायु की तरह ही है। वायु भासती तो है, दिखाई नहीं देती है। वायु को सत्य तो कह सकते हैं, पर दिखाई नहीं देती है। उसी प्रकार माया भासती तो है, पर अहंता, ममता के कारण दिखाई नहीं देती है।

आवरण शक्ति– जिस प्रकार वायु के कारण आकाश में धूल आदि उड़ती दिखाई देती है। उसी प्रकार माया के कारण यह संसार दिखाई देता है। जिस प्रकार आकाश में अचानक बादल आ जाते हैं। उसी प्रकार माया (अविद्या) के संयोग से यह संसार दिखाई देता है। यही कारण है कि निर्गुण ब्रह्म भी माया (अविद्या) के कारण सगुण दिखाई देता है। वस्तुतः संसार है नहीं। यह मात्र भासमान है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवता।।

गीता 2/28

अर्थात् जिस वस्तु का अस्तित्व आदि और अन्त में नहीं होता है। वह वस्तु मध्य में कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है। इसी कारण यह संसार, माता, पिता, बन्धु के शरीर आदि में नहीं थे और अन्त में भी नहीं रहेंगे। केवल मध्य में अविद्या के कारण भासमान हो रहे हैं। वास्तव में यह संसार है ही नहीं केवल माया के कारण ही मृगमरीचिका की भांति सत्य प्रतीत हो

रहा है।

इस माया की निवृत्ति के लिये भगवान श्रीकृष्ण जी ने सरल उपाय बताया है:–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्तेमायामेतां तरन्ति ते।।

गीता 7/14

योगी सातवलेकर के मतानुसार माया का अर्थ कारीगरी अथवा कलाकृति है। परमात्मा ने इस माया द्वारा पंचभूतों की रचना की है। यही उस परमात्मा की कारीगरी है। यह मानव शरीर पंचभूतों का एक संगठन है। जीव ने इस शरीर में अहंता ममता का आरोप कर लिया है। इस कारण इस माया से छूटना कठिन है। मनुष्यों में से जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि केवल मेरी ही तरफ रहती है। तीनों गुणों की तरफ नहीं, क्योंकि ये तीनों गुण न मेरे में हैं और न मैं उनमें हूँ। मैं तो निर्लिप्त रहकर सभी कार्य करता हूँ। इस प्रकार जो शरणागत भक्त मेरे स्वरूप को जानते हैं, वे गुणों में नहीं फसते हैं, इस माया से तर जाते हैं। वे भक्त जानते हैं कि मन, बुद्धि, चित्त आदि प्रकृति ही है। प्रकृति से परे मुझ निर्विकार ब्रह्म को जो मनुष्य जान सकता है। वही परमात्मा की शरण लेता है।

□□□

भूपेन्द्र 'अंकुश'
जलेसर

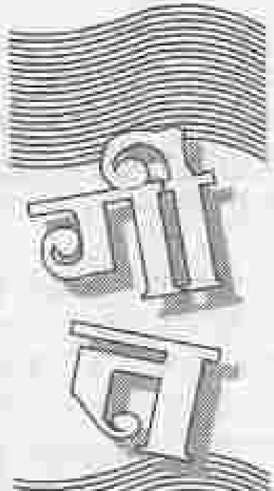

जब तरु लताओं पै पल्लव होगा।
मौसम सुहाना उद्भव होगा।।
तब–तब प्रभु श्री रामलाल का उत्सव होगा।। टेक।।
पात अरु कली से डाली वन्दनवार सजायेगी।
हर एक शाख रसालों की नये बौरों से झुक जायेगी
पिक के स्वरों का वैभव होगा– मौसम सुहाना – 1
चैत की किरन की गरमी चेतना जगायेगी
हरी हरी घास मन की वेदना भगायेगी
पग–पग परागों का आसव होगा–मौसम सुहाना – 2
भोर की पवन में भौरे तितली उड़–उड़ डोलेंगे
जय–जय–जय प्रभुराम लाल की कुंज–कुंज में बोलेंगे
जयघोष करता कलरव होगा–मौसम सुहाना – 3
खेत घर खुशी से झूमेंगे जौं सरसों के दानों पै।
ढोलक चंग मंजीरा बाजें फाग–राग, की तानों पै।।
हिरदय–सरोवर लबालब होगा– मौसम सुहाना – 4
योग की कमी से दुर्बल मानव–मन दुखियायेगें।
भगवन्ती की कुक्षा से अवतारी प्रभु आ जायेंगे
बीमारियों का पराभव होगा–मौसम सुहाना – 5

महर्षि अष्टावक्र–जीवन गाथा

डा. विजय सिंह

हमारे विराट धार्मिक, अध्यात्मिक ग्रंथों में एक से बढ़कर एक अलौकिक आख्यान भरे पड़े है। सब में साधना को प्रेरित करने, नैतिक चारित्रिक विकास को बढ़ावा देने की भरपूर ऊर्जा निहित है। परामौतिक विज्ञान सम्बंधित कथायें कल के दिनों में काल्पनिक भले लगती रही हो, परन्तु आज उन्हें गल्प कहकर ठुकराया नही जा सकता। आध्यात्मिक सूक्ष्म विज्ञान का आधार स्वयं साधनानुभूति के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है।

अस्तु! पहले हम देखेंगे कि मिथिला नरेश जनक किसी एक नही अपितु कई राजाओं का जो मिथिला पर शासक रहे है उनका विशेषण रहा है। महर्षि अष्टावक्र के उपदेश से अल्पकाल में द्रष्ट भाव को प्राप्त हुए जनक रामायण काल के सीता के पिता नहीं है।

एक राजा निमि थे। वे यज्ञ कराने हेतु ऋषि वशिष्ठ जी को मुख्य पुरोहित बनाना चाहते थे। परन्तु वशिष्ठ जी ने कहा– राजन! अभी मैं एक अन्य यज्ञ कराने जा रहा हूँ, इसके बाद आपका यज्ञ कराऊंगा। राजा ने स्वीकार किया। परन्तु बाद में उनका विचार बदल गया। उन्होंने अन्य लोगों की सहायता से यज्ञ प्रारम्भ करा दिया। ऋषि वशिष्ठ का यज्ञ स्थल पर आना, अपना अपमान समझ कर निमि को मृत्यु का श्राप देना। तत्क्षण निमि का मरना। यज्ञ करा रहे अन्य ऋषियों एवं देवताओं के समक्ष यज्ञ पूर्ण न होने का संकट आ पड़ना। देवताओं द्वारा मृत राजा निमि के शरीर का मंथन करने से उनकी देह से एक शिशु का अवतरित होना और यज्ञ सम्पन्न कराना आदि आदि घटनायें घटित हुई। यह सही है कि मिथिला पर जितने भी राजा राज किये, वे सभी तितिक्ष, मुमुक्ष एवं ज्ञानग्राही थे।

अष्टावक्र की जन्म कथा:–

महर्षि उद्दालक के एक शिष्य कहोड थे। गुरु से सम्पूर्ण वेद का ज्ञान प्राप्त कर जब अपने घर जाने लगे, उस समय गुरुदेव से बोले–प्रभो, आज्ञा दीजिए। उद्दालक ने कहा–वत्स! मेरी इच्छा है कि तुम आश्रम छोड़कर मत जाओ। तुम यहीं रहकर शिक्षण कार्य करो। तुम इस आश्रम के अभिन्न अंग हो। मैं अपनी पुत्री सुजाता को तुमको पत्नी के रूप में सौंपता हूँ तुम उसे स्वीकार करो। तुम जैसे योग्य जमाता को पाकर मैं निश्चिंत हुआ।

कालान्तर में सुजाता गर्भवती हो गई। उसका सम्पूर्ण शरीर दिव्य कांति से दीप्त हो गया। कहोड भी पिता बनने की अनुभूति से अत्यंत हर्षित थे। समय व्यतीत होता गया। जब गर्भ का आठवां महीना था। वह अपने पति के पास बैठी हुई थी। महर्षि कहोड वेदाभ्यास कर रहे थे। पूर्ण एकाग्रता की अवस्था में उन्होंने जो कुछ सुना वह उनको विक्षुब्ध करने वाला हुआ। उन्होंने सुना सुजाता के गर्भ से बालक कह रहा है– तात वेदों का ज्ञान ही सब कुछ नहीं है। आत्म ज्ञान ही परम सत्य है। ग्रंथों में परम सत्य को मत खोजो। ज्ञान तुम्हारे अंतर्मन में ही समाहित है। आत्मानुभूति से ही परम ज्ञान की उपलब्धि होती है।

वेदशास्त्र कहोड की दृष्टि में श्रद्धेय और अनन्य ज्ञान के स्त्रोत थे। उन्होंने सोचा वेदमय वातावरण में यह वेदविरोधी मेरे घर जन्म ले रहा है। तभी पुन: आवाज आयी– तात! आत्मा को जानो, सब कुछ जान जाओगे।

अकस्मात! कहोड क्रोध के वशीभूत हो गये। अमित करते हुये बोले— रे मूढ़, निस्संदेह तेरा मस्तिष्क विकल है, तभी तेरे विचार रुग्ण है। जब तुम जन्म लेगा, तेरा शरीर आठ स्थानों से वक्र होगा। उसके पश्चात गर्भस्थ शिशु मौन हो गया। इधर कहोड के मन से क्रोध समाप्त हुआ। उन्हें बच्चे के जन्म संस्कार हेतु धन की आवश्यकता थी। अतः वे दानशील राजा जनक के पास गये। वैभवशाली राजदरबार में राजा जनक स्वयं उठकर स्वागत करते हुये बोले— स्वागत है ब्राह्मण राज, आसन ग्रहण करें। चारों तरफ अनेक विद्वान राजा जनक के दरबार को शोभित किये हुये विराजमान थे। राजा जनक द्वारा पूछे जाने पर कहोड ने कहा— राजन! मैं ऋषि उद्दालक का शिष्य एवं जमाता कहोड हूँ। मेरी पत्नी प्रसवासन्न है। जन्मोपरान्त शिशु का संस्कार करना अपरिहार्य है, किंतु धनाभाव से मैं इसमें अपने को असमर्थ पा रहा हूँ।

राजा जनक ने अपने दरबारियों में उत्कृष्ट विद्वान बंदी की ओर देखा और कहा— श्रेष्ठ प्रवर, आप कुछ कहना चाहते हैं।

बंदी ने राजा का अभिमत जान कर कहा— राजन हम विद्वान कहोड से शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। ऐसे विद्वान से शास्त्रार्थ का आनन्द ही कुछ और होगा। राजा जनक सेवकों से कहकर कहोड के आश्रम में धन सामग्री भिजवा दिये।

इधर शास्त्रार्थ प्रारम्भ करने से पूर्व बन्दी ने शर्त रखी— महात्मन! जो शास्त्रार्थ में हारेगा, वह जल समाधि लेने को बाध्य होगा।

ऋषिवर कहोड को अपने वेद ज्ञान पर विश्वास था। उन्होंने बंदी की चुनौती को स्वीकार कर लिया।

कहोड की विद्वत्ता से सभी प्रभावित हो उठे परन्तु बंदी ने वितण्डा तथा कुतर्कों के सहारे उनको भ्रमित कर पराजित कर दिया। वचनानुसार उन्होंने जल समाधि लेकर देह त्याग दिया।

यह शोक समाचार उद्दालक ऋषि के आश्रम में पहुँचा, सभी शोकान्वित हो उठे। समय व्यतीत हुआ। अष्टावक्र अल्प आयु में ही समस्त वेदों का परायण कर लिये। वे सदैव आत्मा में रमे रहते थे। आत्मज्ञान से ओतप्रोत आत्म तेज से सभी को आकर्षित करते थे।

एक बार उन्होंने अपनी माँ से पिता के बारे में पूछा, और जल समाधि के कारण को जानकर वे बोले— माँ तुम दुःखी मत हो, मैं राजमहल जाऊंगा और बंदी से शास्त्रार्थ करूंगा। ऐसा कह वे तुरंत जनकपुर को प्रस्थान किये, माँ भाँति—भाँति से उनको रोकती रही।

अष्टावक्र को महल द्वार के द्वारपाल ने बालक को विकलांग परंतु तेज मंडित देखकर पहले अन्दर नहीं जाने दिया परन्तु उनके वाणी से, तर्कों से प्रभावित होकर राजा के पास जाकर सब यथार्थ कहा। राजा ने ऐसे अप्रतिम बालक को आदर पूर्वक दरबार में लाने की आज्ञा दी।

महामना अष्टावक्र जब सभागार में मौन निश्चयी दृष्टि से प्रवेश किये, दोनों ओर बैठे राजदरबारी तथा विद्वान उनकी चाल एवं बाह्य रूप को देखकर जोर—जोर से हंसने लगे।

इन बातों से अप्रभावित बालक अष्टावक्र राजा जनक के पास पहुंच ओजस्वी वाणी में आशीर्वचन कहा। राजा जनक गम्भीर थे। वे उठकर उनका अभिनन्दन किये और उचित स्थान पर उन्हें बैठाया। उनसे यहाँ आने का प्रयोजन पूछा।

अष्टावक्र ने कहा— राजन! मैंने सुना था कि आपके दरबार में ज्ञानी, उत्कृष्ट विद्वान सुशोभित होते हैं। उन्हीं से ज्ञान चर्चा हेतु उपस्थित हुआ था। परंतु हमें तो इनमें से कोई विद्वान नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ तो चर्मकारों की सभा जुटी है।

सांख्य योग–सिद्धयोग तथा साधनायोग

पं. कृष्ण कुमार, गोरखपुर

पूर्व के लेख में गीता का दूसरा अध्याय सांख्य योग का गीतोक्त भाव के अनुसार अभिव्यक्ति की गयी उसी का दूसरा भाव भी गुरु कृपा से स्फुरित हुआ जो इस लेख का वर्ण्य विषय बना। सिद्धयोग तथा साधनयोग के बारे में गुरुदेव भगवान के प्रवचनों के माध्यम से सुना गया है। सांख्ययोग के परिप्रेक्ष्य में उसकी चर्चा होगी।

सिद्धगुफा से संबंधित गुरुभाई, बहन प्रभु कृपा से सिद्धयोग के ही साधक है। प्रत्येक साधक के जीवन में सद्‌गुरु की कृपा किसी न किसी माध्यम से मिली है। गुरु कृपा आज भी जारी है तथा आगे भी जारी रहेगा। क्योंकि हम सब का संबंध सिद्धपीठ से है। फिर भी गुरुदेव भगवान साधन योग के बारे में भी बताते रहते थे। जिससे शरीर की शुद्धि बनी रहे तथा सिद्धकृपा को सम्हालने की शक्ति बनी रहे। अथवा सिद्धपथ और दृढ़तर होता रहे।

योग योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को सिद्धयोग का विद्यार्थी बनाया। क्योंकि उसमें समर्पण वृत्ति दिखलाई देती है। उन्होंने उससे कहा– "**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**" यहाँ अर्जुन शिष्य के साथ प्रपन्न की स्थिति में पूरी तरह से सच्चे मन से दिखता है। इसलिए भगवान ने उससे तत्वज्ञान की सारी बातें सांख्ययोग के परिप्रेक्ष्य में उपदेशित किया। साधक में यदि अर्जुन की तरह प्रपन्नता नहीं है। तो वह उस शक्ति को प्राप्त कर भी कल्याण का भागी नहीं हो पाता है। किंतु अर्जुन तो भगवान का सच्चा शिष्य है। वह भगवान कृष्ण के अनुसार कार्य कर रहा है। जिसका परिणाम यह निकला कि युद्ध में सभी महारथियों का वध हुआ तथा राज्य की प्राप्ति हो गई। कदाचित हम सब साधक सद्‌गुरु के कितने अंशों में उपदेशों एवं आज्ञाओं को प्राप्त कर कार्य कर रहे हैं। उसी के अनुसार परिणाम भी प्राप्त कर रहे हैं।

किसी भी साधक के जीवन में सिद्धि उसकी कार्यक्षमता पर निर्भर है। अर्जुन की सिद्धि युद्ध में विजय प्राप्त करना है। किंतु वह युद्ध रूपी कार्य को नहीं करेगा तो सिद्धि मिलेगी नहीं तथा उसकी अपकीर्ति होगी भगवान ने कहा–

सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जया जयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।

भगवान ने कहा– अर्जुन मान लो तुम राज्य तथा स्वर्ग नहीं चाहते हो तो भी पाप से बचने के लिए युद्ध करो। जिससे समाज में अपकीर्ति तथा पाप को न प्राप्त हो। प्रत्येक साधक को इसी प्रकार अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कर्म करना आवश्यक है। साधन योग की बात को भगवान ने बताते हुए कहा– कि यदि तू कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होगा तो भी युद्ध रूपी कर्म के बीज का नाश नहीं होगा। बल्कि कर्म न करने से उसका परिणाम भी प्रायः उल्टा ही जाता है। जैसे अस्वस्थ शरीर की चिकित्सा न की जाये तो रोग ठीक होने के बजाय और विकृत रूप धारण कर लेगा। जिसका भयंकर परिणाम भी हो सकता है। इसलिए फल की इच्छा न करते हुए निष्काम वृत्ति से कर्म करते हुए साधक जन्म–मृत्यु रूपी महान भय से स्वयं का उद्धार कर लेता है। यदि साधक साधन योग को अपनाकर सद्‌गुरु कृपा रूपी आशीर्वाद प्राप्त कर कार्य की ओर प्रवृत्त

होता रहा तो उसे सम्यक् फल की प्राप्ति होती है। इसी को भगवान ने अर्जुन से कहा–

योगस्थः कुरु कर्माणि संङ्ग त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध सिद्धोः समो भूत्वा सैमत्वं योग उच्यते।।

अर्थात् हे धनञ्जय हर प्रकार से आसक्ति का त्याग कर सिद्धि और असिद्धि भी समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर। यह समत्व भाव अर्थात् कर्म के फलस्वरुप फल की आकांक्षा में समभाव रखना कि ईश्वर कृपा से जो होना है, वह अवश्य होगा। इस बुधि से कर्म करने की आवश्यकता है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति कर्मों से लिपायमान नहीं होता है। साधन योग के साधक इसी तरह कर्म को करते हुए परम पद की प्राप्ति कर लिये है। ज्ञानियों का मानना है कि भगवान ने गीता में कर्म करने की ओर प्रवृत्त करने का उपदेश दिया है। फल की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। क्योंकि प्रत्येक कर्म के बाद फल परिणाम के रुप में प्राप्त होगा ही। इसी लिए कर्मों को करते हुए सिद्धयोग की श्रेणी का विद्यार्थी बना जा सकता है। साधन योग की परम्परा ही है कि साधक गुरुदेव के उपदेशात्मक वाणी को सुनकर क्रमशः साधन के सोपानों को पार करते हुए साधक धीरे–धीरे आगे बढ़ता रहे। अर्जुन जैसे–जैसे भगवान के उपदेशों को शिष्यत्व भाव से सुनता जा रहा है। वैसे–वैसे उसके संशयों की निवृत्ति होती चली जा रही थी। वह अपने अभीष्ट लक्ष्य सिद्धयोग की ओर अग्रसर होने लगा। जो बुद्धि उसे लक्ष्य से भटका रहा था गुरुदेव के उपदेश से सारे संशय छट रहे थे।

सांख्य योग के द्वितीय अध्याय में अर्जुन भगवान से प्रश्न करता है। यह प्रश्न सिद्ध योग के योगी के बारे में लगता है–

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधि स्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषते किमासीत व्रजेत किम्।।

अर्थात् हे केशव समाधि में स्थित पुरुष का लक्षण क्या है? कैसे बोलता व चलता है? प्रश्न के उत्तर में भगवान ने योग्य शिष्य की उत्कृष्ट जिज्ञासा को समझते हुए विस्तृत ज्ञान दिया। भगवान के उत्तर से पूर्णतः सन्तुष्ट अर्जुन अपने प्रश्न के प्रति छिन्न संशय वाला हो गया। भगवान ने कहा– जो पुरुष अपने इन्द्रियों को नियंत्रण में रखता हुआ अपने ईष्ट के प्रति समर्पित बुद्धि वाला होकर रहता है, वस्तुतः वही स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है। इन्द्रियों के नियंत्रण की बात सन्त साहित्य में भी है। कबीर ने कहा– ''**मन को नान्हा–नान्हा करि–करि पीस**''। जिसकी इन्द्रियां उसके वश में नहीं होती है, उसका मन भी अनियन्त्रित होता है। जैसे भयकर वायु नाविक के नाव को अपने अनुसार ले जाती है, उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन में भी भटकाव आने लगता है। जीवन में भटकाव और भ्रम ही उसे लक्ष्य से हटा देती है। इसीलिए योगियों ने अपने क्रम को ही संसारी जीवों से हटकर अलग रखता है। संसारी जीव माया से ग्रसित रहते हैं। योगियों के क्रम को भी भगवान ने अर्जुन से बताया–

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

अर्थात् जब सभी प्राणियों की रात्रि होती है। यानि जब संसार के लोग सोते है तो योगी जागकर तत्व चिन्तन करता है। जब सब लोग जगते है तो वह सोता है। योगियों का क्रम उल्टा

होता है। सांसारिक दृष्टि से देखा जाये तो स्पष्ट होगा। जैसे किसी के पास ईश्वर की कृपा से अपार सम्पत्ति हो जाती है तो वह व्यक्ति किसी को बताता नहीं है, बल्कि उसे गुप्त रखता है। उसी प्रकार अपार सम्पत्ति वाले सिद्धयोगी उस साधन शक्ति को गुप्त रूप से रक्षा करते हैं। अन्यथा दुनिया के लोग शक्ति हीन कर ही देते हैं। क्योंकि हम दुनियावी लोग शक्ति चाहते हैं, लेकिन कर्म की कसौटी पर नहीं। इसलिए कदाचित ईश्वर की कृपा जीव पर होती है, तो यदि उस कृपा को आत्मसात करते हुए उसकी रक्षा नहीं करता तो वह दी गयी शक्ति को खो देता है। स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति समुद्र की तरह से होता है। जैसे समुद्र में बाढ़ नहीं होता है। यद्यपि समस्त नदियों का विलय उसी समुद्र में होता है। उसी प्रकार से स्थिर प्रज्ञ पुरुष परम शक्ति को प्राप्त करता है। वह कभी किसी भी वस्तु से मोहित नहीं होता है। ऐसी ही वृत्ति वाला व्यक्ति ही आत्मकल्याण का भागी होता है। अस्तु भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को भी उसी प्रकार स्थित प्रज्ञ की स्थिति प्रदान की। यह स्थित प्रज्ञता ही सिद्धयोग का लक्षण है। जिस प्रकार सिद्धयोग का आधार साधन योग है। उसी प्रकार अगला सोपान सिद्धयोग स्थिर होता है। भगवान ने वह भित्ति तैयार कर दी है।

सद्गुरुदेव भगवान ने हम साधकों के जीवन में भी इसी प्रकार की जिज्ञासा वृत्ति पैदा करके उसे सिद्धयोग से वृत्तियों को शान्त भी कराया है। ऐसे कृष्णास्य स्वरूप सद्गुरुदेव की कृपा अनवरत बनी रहे। जिससे सिद्धपथ का पाथेय साधन बना रहे तथा आत्म कल्याण का भागी बने। योगेश्वर कृष्ण ने अन्त में अपने योग्य शिष्य साधक अर्जुन को बताया कि–

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।

अर्थात् साधक के लिए कामनाओं का त्याग करना और निरहंकारी होना आवश्यक है।

आचार्य शंकर का उपदेश भी साधक को प्रेरित करने वाला है–

निरस्त रागा निरपास्त भोगाः।
शान्ताः सुदान्ता यतयो महान्तः।।
विज्ञाय तत्वं परमेतदन्ते।
प्राप्तां परां निर्वृतिमात्म योगात्।।

अर्थात् जिसका किसी भी वस्तु में राग नहीं है, और भोग का भी सर्वथा अन्त हो गया है। जिनका चित्त शान्त एवं इन्द्रियां संयत है, वे महात्मा सन्यासी जन ही इस परम तत्व को जानकर अन्त में इस योग के द्वारा परम शान्ति को प्राप्त कर जाता है। अतएव अर्जुन की तरह हम साधकों को भी साधन मार्ग से सिद्धि पथ पर चलकर जीवन रूपी महाभारत में विजय प्राप्त करनी है।

दह्यन्ते ध्यायानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।

अर्थात् अग्नि से तपाये जाने पर जैसे धातु का मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणवायु के निग्रह से इन्द्रियों के सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।

(महाराज मनु)

पहली बार–श्री कृष्ण का स्थूल दर्शन

केशवदेव उपाध्याय

उपरोक्त शब्द एक योगी महात्मा का है जो पूरे राजस्थान में श्री राम लड्डू बाबा के नाम से प्रसिद्ध है। उनका नश्वर शरीर अब इस धराधाम पर नहीं है, परन्तु उनके जानने वालों की श्रद्धा आज भी वही है जो उनके उपस्थित रहने पर थी। उपरोक्त शब्द उन्होंने कब–क्यों–किसके निमित्त कहा था, यह जानने के लिए पूरे घटना क्रम की जानकारी करना आवश्यक है एवं उसका विवरण सविस्तार नीचे दिया जा रहा है। श्री गुरुदेव भगवान के अनन्य कृपा पात्र शिष्य एवं उन्हें ही सर्वस्व समझने वाले हमारे एक गुरुभाई का नाम श्री मनोहर तिवारी तथा इनका निवास स्थान राजस्थान प्रान्त के गंगापुर सिटी नामक शहर में स्थित है। आराध्यदेव का सतत स्मरण बना रहे, इस नीयत से इन्होंने अपने मकान का नाम श्री सतगुरु छाया धाम रखा है। इनका मकान सैनिक नगर नामक मौहल्ले में स्थित है जहाँ भाई जी अपनी धर्मपरायण पत्नी श्री मती रीता तिवारी के साथ निवास करते हैं। श्री गुरुदेव भगवान की चरण–शरण ग्रहण करने के बाद से ही ये दम्पति आराध्यदेव का श्री गंगापुर सिटी में योग प्रचार कार्यक्रम कराने के लिए प्रयासरत रहे एवं इन्हें सफलता भी मिली। श्री आराध्यदेव जी ने इनकी प्रार्थना स्वीकार कर श्री गंगापुर सिटी में कई वर्ष योग प्रचार कार्यक्रम किया। सन् उन्नीस सौ तिरासी–चौरासी के वर्ष में श्री आराध्यदेव जी का गंगापुर सिटी का कार्यक्रम श्री बन्दी नाथ मन्दिर में सत्तरह जून से पच्चीस जून तक हुआ, जिसमें लौकिक प्रबन्ध कर्ता श्री तिवारी दम्पति एवं उनके शुभेक्षु लोग ही थे। दीक्षा देते समय ही आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान जी ने कहा था, "लल्ला! मंत्र जप के साथ श्री प्रभुजी (अखिल ब्रह्माण्ड नायक, परम योग योगेश्वर दादा गुरुदेव श्री रामलाल जी महाराज) के चरण कमलों का चिन्तन करते हुए, उसका खूब प्रचार एवं प्रसार करो। पूरे राजस्थान में उनकी अहैतुकी कृपाओं का डंका बजाओ, मैं भी यदा–कदा आकर तुम्हारा उत्साह वर्धन कर दिया करूंगा। हमारा पूर्ण आर्शीवाद तुम्हारे साथ है।"

यह आराध्यदेव जी का गंगापुर सिटी का प्रथम यौगिक प्रचार कार्यक्रम था। श्री तिवारी दम्पति ने पूरे मनोयोग से प्रयत्न करके इस कार्यक्रम का प्रचार स्वयं पम्पलेट घर–घर पहुंचा

कर, सिटी के मुख्य सड़कों एवं गलियों की दिवालों पर चस्पा कर तथा समाचार पत्र के माध्यम से किया। परन्तु कार्यक्रम के सायंकाल तीसरे दिन तक बुलाने पर भी कार्यक्रम में कोई आध्यात्म प्रेमी नहीं आ रहा था। यद्यपि श्री तिवारी दम्पति के उत्साह में कोई कमी नहीं आयी, परन्तु साथी आयोजकों को बड़ा ही अटपटा सा लग रहा था कि साधारण कथा वाचक साधु के आने पर इस शहर में अच्छी भीड़ इकट्ठी हो जाती है, और इतने बड़े योगिराज को सुनने के लिए आस्तिक लोग क्यों नहीं आ रहे हैं। उन लोगों ने श्री तिवारी दम्पति से कहा, ''आप लोग श्री गुरुदेव भगवान से कुछ प्रार्थना करिये।'' श्री तिवारी दम्पति ने कहा, ''हम लोग श्री गुरुदेव भगवान से यह प्रार्थना करने में असमर्थ है, आप लोग ही प्रार्थना कर दीजिए।'' कार्यक्रम के तीसरे दिन जब श्री मनोहर तिवारी जी सायंकाल आराध्यदेव जी के सम्मुख हाथ जोड़ कर खड़े हुए एवं बोले, ''महाराज जी! इस समय सब्जी क्या बनेगी।'' इस पर श्री गुरुदेव भगवान विचार कर ही रहे थे, उसी समय हमारे तीन गुरुभाई श्री तिवारी जी से इशारे से यह निवेदन कर रहे थे कि श्री गुरुदेव भगवान से उस विषय में भी निवेदन कर लीजिये। उस विषय का मतलब आप सभी लोग समझ गये होंगे। इशारे से वे लोग पूछने का आग्रह कर रहे थे एवं श्री मनोहर तिवारी जी इशारे से ही नकारात्मक इशारा कर रहे थे। उन लोगों की इस प्रकार की हरकत देखकर अनाथ नाथ जी से कहा 'महाराज जी! कोई बात नहीं है।' श्री त्रिलोकी नाथ ने कहा 'लल्ला! कुछ बात तो अवश्य है स्पष्ट बतलाओ। गुरुदेव से कोई बात छिपानी नहीं चाहिए।' उनकी आज्ञा सुनकर श्री मनोहर तिवारी जी ने प्रार्थना की, 'महाराज जी! हम लोगों ने खूब लगन से आप के कार्यक्रम का प्रचार किया एवं ऐसी भावना थी कि खूब भीड़ जुटेगी। परन्तु ऐसा हो नहीं रहा है। यही प्रार्थना, आप से करने का साहस नहीं जुटा पा रहा था एवं अपने भाई लोगों को इशारे से यह समझा रहा था कि मैं प्रार्थना नहीं कर पाऊंगा।' आराध्यदेव ने भाई श्री तिवारी जी की प्रार्थना को अच्छी प्रकार सुना एवं अपनी मनोहारी अर्ध मुस्कान के साथ उस समय, इस विषय को वहीं समाप्त कर दिया।

तीसरे दिन का सायंकालीन कार्यक्रम भी पूर्व के दोनों दिनों की तरह ही रहा। आराध्यदेव के साथ चलने वाले पार्षद गणों की जितनी संख्या थी, त्रिलोकी नाथ के अमृतमय वचनों को सुनने के लिये उससे ज्यादे श्रोता शायद नहीं थे। तीसरे दिन के सायं एवं रात्रीकालीन कार्यक्रम के बाद जब आराध्यदेव जी रात्री विश्राम की नियत से पलंग पर आराम करने लगें तो श्री तिवारी जी उनके चरण कमल दबाने लगे। उनकी धर्मपरायण पत्नी श्रीमति रीता तिवारी हमारे तीन अन्य गुरुभाईयों, श्री रामचरण बजाज, श्री हरीमोहन गुप्ता एवं श्री गोपाल लाल जैन के साथ जमीन पर बिछे फर्श पर बैठी थीं। श्री तिवारी जी को आराध्यदेव जी ने आदेश दिया, 'लल्ला! दो किलो नारियल की रस्सी खरीद लेना एवं किराये पर बल्लियां लेकर बीचो–बीच गाड़ कर रस्सी लगा देना। एक तरफ पुरुष एवं दूसरी तरफ महिला लिखकर दफ्ती पर सस्पा करके दोनों तरफ लगा देना। यह कार्य कल प्रातः काल श्री प्रभुजी की सामूहिक आरती के पूर्व कर देना। हमारे प्रिय गुरुभाई श्री मनोहर तिवारी जी ने क्या अनुभव किया होगा, इस बात को तो वही जाने। परन्तु हमारे अन्य वहां उपस्थित गुरुभाईयों ने गम्भीरता से नहीं लिया। उसके बाद श्री गुरुदेव भगवान को प्रणाम कर सभी लोग रात्रि विश्राम करने चले गये। हमारे भाई जी ने इस सिद्धान्त से आराध्यदेव की आज्ञा का पालन करना अपना कर्तव्य समझा, ''गुरु आज्ञा न

उल्लघनिया"। यह प्रातः काल की आरती का समय आठ बजे का था, अतः उन्होंने अपने गुरुभाई को पैसे देते हुए कहा कि दो किलो नारियल की रस्सी लेते आओ। उसने कहा, "आप भी कैसी बात करते है भाई जी, किसके लिए रस्सी लगानी है।" जब भीड़ बढ़ेगी तो देखा जायेगा। खैर श्री तिवारी जी ने अन्य किसी से रस्सी मंगवा ली एवं बल्लिया भी भाड़े पर मंगवा ली। उन्होंने आराध्यदेव की आज्ञापालन तो की, लेकिन उन्हे यह कार्य करते हुए असहजता अनुभव हो रही थी।

आराध्यदेव जी ने प्रातः आठ बजे त्रिजग पावन, करूणा निकेतन, हमारे आपके दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की आरती की एवं उसके बाद श्रीमद्‌भगवत गीता के दशवे अध्याय का पाठ कराना आरम्भ किया। ज्योंही उन्होंने इस अध्याय का पाठ आरम्भ किया, श्री राम लड्डू बाबा, जिनको गंगापुर सिटी में पूजने वाले सैकड़ो भक्त थे, तेज गति से आये एवं टेन्ट के सबसे पिछले छोर पर, जहा जमीन पर फर्श बिछा था आसन लगाकर बैठ गये। उस टेन्ट में करीब तीन सौ श्रोताओं के बैठने की जगह थी, परन्तु वे सबसे पीछे बैठे। वे आसन लगाकर बैठे थे एवं अपलक नेत्रों से हमारे आराध्यदेव श्री गुरुदेव भगवान को देख रहे थे। चूंकि श्री राम लड्डू बाबा के प्रति वहा के आस्तिक लोग बड़ी ही श्रद्धा रखते थे, अतः एक श्रद्धालु जिसका घर इस कार्यक्रम वाले स्थल के करीब ही था, एक बहुत अच्छी आसनी लेकर गया एवं उनसे प्रार्थना किया, "महाराज जी! आप जमीन पर बैठे हुए है कृपया उठने का कष्ट करें, मैं यह आसन आप के बैठने वाले स्थान पर बिछा दूं, उस श्री राम लड्डू बाबा ने कहा, "रहने दो आसन, इस आनन्द से अपनी पूरी जिन्दगी में पहली बार श्री कृष्ण का स्थूल दर्शन कर रहा हूँ एवं एक सैकेन्ड भी मैं वंचित नही रहना चाहता। वे अपलक नेत्रों से श्री गुरुदेव भगवान को देखते रहे जो उन्हें साक्षात स्थूल श्री कृष्ण के रूप में दर्शन दे रहे थे। पण्डाल में आकर यदि कोई उन्हे प्रणाम करने का प्रयत्न करता तो वे कहते, "नालायक कहीं का सामने देखो, स्वयं भगवान श्री कृष्ण स्थूल रूप में गीता का उपदेश सुना रहे है, उन्हें साष्टांग प्रणाम करो। हमें प्रणाम करके क्या पायेगा। यदि उन्हे प्रणाम करेगा एवं उनकी नजरें इनायत हो गयी तो जन्म-मरण के चक्कर से छुट जायेगा। उन्ही को साष्टांग प्रणाम करो। वही करण-कारण है।" ये शब्द उन्होंने उन सभी लोगों से कहा जिन लोगों ने आराध्यदेव के मुखार बिन्द से निकले श्री मद्‌भगवत गीता के श्लोको को सुनने में उनकी एकाग्रता में बाधा पहुंचायी।

सन् तिरासी के गंगापुर सिटी के इस कार्यक्रम में जिसमें तीसरे दिन एक मात्र नौ-दस की उपस्थित रहती थी आज चौथे दिन के कार्यक्रम में कई सौ लोग इक्टठा होकर आराध्यदेव की अमृतमय वाणी सुन रहे थे। पूरा पण्डाल खचा-खच भरा हुआ था एवं लोग सड़को के किनारे एवं आस-पास की छतों पर खड़े होकर अथवा बैठकर आराध्यदेव जी का यह कार्यक्रम सुनते रहे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि इतनी भीड़ के रहते हुए वातावरण में कोई किसी से बात नही कर रहा था। यदि कोई अपने बगल वाले से कुछ कहने का प्रयत्न करता तो बगल वाला कहता कि अभी तुम शान्त रहो, हमें प्रवचन सुनने दो बाद में अपनी बात हमसे बतलाना। ऐसा आध्यात्मिक आनन्ददायक प्रसंग गंगापुर सिटी में शायद पहली बार ही बना था। प्रातः कालीन कार्यक्रम की समाप्ति के बाद श्रद्धालुओं ने जा-जाकर आराध्यदेव जी का चरण स्पर्श कर अपना-अपना पुण्य बढ़ाया। धन्य है श्री राम लड्डू बाबा एवं धन्य है उनकी हमारे श्री

गुरुदेव के चरणों में प्रेम। उन्होंने वहीं जिस स्थान पर बैठे थे, वहीं से साष्टांग प्रणाम किया। ऐसी ही कृपाओं को स्मरण करते हुए महात्मा श्री तुलसीदास जी ने लिखा है–

''सोई जानत– जेहि देत जनाई''

हमारे गुरुभाई श्री तिवारी दम्पति की आर्थिक स्थिति उन दिनों खराब चल रही थी, इस समय कैसी है यह जगताधार श्री गुरुदेव ही जाने। प्राणी की आर्थिक स्थिति खराब होने पर इस संसार में उसकी विश्वसनीयता कम हो जाती है, ऐसा देखने को मिल रहा है। श्री तिवारी दम्पति ने जब आराध्यदेव के लिए कार्यक्रम स्थल एवं उससे सम्बंधित सामान का जब प्रबन्ध कर रहे थे, तो कार्यक्रम स्थल के मालिक ने कहा, ''तिवारी जी! सब तो ठीक है, बिजली खर्च का हिसाब कैसे किया जायेगा।'' श्री तिवारी जी ने कहा कि आप ही कोई रास्ता निकालिये। मालिक ने कहा कि हमारे यहां तो बहुत कम बिजली खर्च होती है एवं आप के इस प्रोग्राम में बिजली तो बहुत खर्च होगी। हम तो यही सलाह देंगे कि इन दिनों का बिजली का पूरा बिल आप ही पेमेन्ट करें तो ठीक रहेगा। श्री तिवारी दम्पति करते ही क्या? मालिक की यह शर्त स्वीकार कर लिये। आराध्यदेव का कार्यक्रम निर्धारित समय पर प्रारम्भ हो गया। आराध्यदेव दिन में ही पहुंच गये थे एवं पहले दिन के कार्यक्रम में केवल आरती एवं श्री गुरुदेव भगवान के विश्राम का कार्य था। श्री तिवारी दम्पति हमारे भाई–बहन ने बिजली के सजावट की ऐसी भव्य व्यवस्था की थी जितनी अच्छी व्यवस्था शादी–ब्याह के कार्यक्रम में भी केवल एक दो दिन के लिये करना आम आदमी के लिए कठिन था। श्री गुरुदेव भगवान के गंगापुर सिटी कार्यक्रम स्थल पर पहुंचने पर बड़ी ही श्रद्धा एवं उत्साह के साथ लोगों ने श्री आराध्यदेव जी की आरती की। तदन्तर आराध्यदेव जी ने थोड़ी देर बाद जगत नियन्ता अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की आरती की। उपस्थित श्रद्धालुओं को अपने कर कमलों से प्रसाद दिया करीब आधे घंटे तक वहीं विराजमान रहकर सबका समाचार पूछते रहे एवं अगले दिन प्रातः काल सबको आने का आदेश देकर विदा किये। श्री आराध्यदेव जी श्री तिवारी दम्पति द्वारा ठहरने वाले कक्ष में ले जाये गये। वहां अपने आसन पर विराजमान होते ही आराध्यदेव जी ने कहा, ''लल्ला! बिजली की इतनी सजावट की क्या जरूरत थी। मैं तो आता ही आता। सैकड़ों रुपये तुम्हें बिजली के बिल के देने पड़ेंगे। उनकी करुणा भरी बातों को सुनकर श्री तिवारी जी एवं उनकी सुलक्षणा अर्धांगिनी श्रीमती रीता जी अभी आराध्यदेव के सामने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की, ''श्री महाराज जी! मेरे लिये त्रिलोकी में आप से बड़ा व्यक्तित्व और अमूल्य निधि और कोई है ही नहीं। यदि मैं ऐसी सजावट नहीं करता तो मेरा मन जिंदगी भर मुझे कोसता रहता। यही मेरी बाध्यता थी, महाराज जी कृपया क्षमा करने की कृपा की जाये।'' यह वाक्य समाप्त होते ही श्री तिवारी जी फफक–फफक कर रोने लगे एवं लगभग उनकी धर्मपत्नी श्री मती रीता बहन की भी यही स्थिति थी। उनकी यह स्थिति देखकर करुणा वरुणालय श्री गुरुदेव भगवान तत्काल अपने आसन से उठे एवं दोनों को अपनी छाती से लगाकर बोले, ''लल्ला! योगियों के बालक रोते नहीं तुम लोग हमारे लाड़ले बच्चे हो, खूब धूमधाम से श्री प्रभुजी का कार्यक्रम करो। वे अनाथ नाथ श्री प्रभुजी तुम्हारा अवश्य–अवश्य कल्याण करें, यही हमारी उनसे प्रार्थना है। आराध्यदेव जी महाराज ने करीब पन्द्रह मिनट तक उस दम्पति को सान्त्वना देते रहे एवं दोनों के सिर पर अपने वरद हस्त का आशीर्वाद देकर, उनका आध्यात्मिक उत्थान करते रहे। यह आध्यात्मिक योग प्रचार

कार्यक्रम काफी आध्यात्मिक ज्ञान वर्धक रहा एवं कई प्राणी इस पथ के पथिक बन गये।

आराध्यदेव जी गंगापुर सिटी का कार्यक्रम समाप्त कर अन्य कार्यक्रमों के लिए प्रस्थान कर गये तो भाई जी ने सभी सामान वालो का हिसाब कर पैसा चुकता करने का कार्य किया। इसी नियत से वे कार्यक्रम स्थल वाले मालिक के पास गये। उचित अभिवादन के बाद उसने अपनी हिसाब की कॉपी निकाली एवं उससे कार्यक्रम के एक दिन पूर्व के बिजली मीटर की रीडिंग अपने सेवक को नोट करके देते हुए कहा कि तिवारी जी के साथ जाओ एवं इस समय मीटर की रिडिंग लेकर आओ। दोनो आदमी साथ गये एवं दोनों ने बारी–बारी से मीटर की रिडिंग पढ़कर अलग–अलग नोट की। आश्चर्य! महान आश्चर्य! मीटर चल रहा था परंतु उसकी रिडिंग वही थी जो आठ दिन पूर्व थी। हमारे श्रद्धावान गुरुभाई–बहनों एवं ध्यानाभ्यासी साधकों को अब यह रहस्य खूब अच्छी प्रकार से ज्ञात हो गया होगा कि निर्जीव विद्युत मीटर सात दिन पूर्व की रिडिंग क्यों दे रहा था।

उस कार्यक्रम स्थल मालिक ने कहा कि तिवारी जी हमारी तो समझ में ही नही आ रहा है। मीटर चल भी रहा है एवं उसकी रिडिंग वही है जो उस दिन नोट की गयी थी। मीटर बन्द रहता तब तो बात समझ में आती, लेकिन चल रहा है।

, अतः यह कैसे सम्भव है कि बिजली का मीटर चलता रहे एवं उसकी यूनिट न आये, ऐसा हो ही नही सकता। उस मालिक ने कहा कि कल मीटर रीडर को बुलायेंगे एवं उसी से चेक करायेंगे कि इस मीटर को क्या हो गया है। मकान मालिक ने मीटर रीडर को अगले दिन बुलाया, मीटर रीडर ने आकर मीटर चेक किया। मीटर दो यूनिट बिजली और ज्यादे दिखा रहा था, उस यूनिट से जो बीते कल की थी। मीटर अपनी चाल से जिस गति से चलना चाहिए था चल रहा था। उसने सभी बिजली के प्वाइन्ट आफ कर दिये तो मीटर का चलना बंद हो गया एवं जैसे–जैसे उसने विद्युत के उपकरण चालू करना आरम्भ किया वैसे–वैसे मीटर की गति बढ़ती गयी। पूरे उपकरण चलने पर मीटर तीव्र गति से चल रहा था। उस मीटर रीडर ने चेक करने के बाद कहा, ''आप के मकान का मीटर बिल्कुल ठीक चल रहा है।'' इतना कहकर मीटर रीडर चला गया। अब बेचारा जमीन मालिक कहता ही क्या? क्योंकि सभी बातें श्री तिवारी जी के सामने ही हुई थी। उसने कहा, ''तिवारी जी! मीटर जब कोई यूनिट बता ही नही रहा तो पैसा क्या मांगू।'' उसके इतना कहने के बाद श्री तिवारी जी अपने घर आ गये एवं यह बात अपनी सुलक्षणा पत्नी को बताते हुए रोने लगे। उनकी पत्नी ने भी उनका साथ दिया। वे यह दम्पति बार–बार श्री गुरुदेव का स्मरण करते हुए आह्लादित होते रहे एवं फिर उसके बाद आरती करके ध्यानस्थ हो गये।

श्री तिवारी दम्पति पर उनके कृपायें हुई है। इस छोटे से लेख में उसका वर्णन सम्भव नहीं है, परन्तु यदि सारांश मे कहना हो तो मेरी समझ से यही कहना सत्य होगा कि इस दम्पति का पूरा जीवन ही श्री आराध्यदेव की कृपा पर आधारित है। धन्य हैं हमारे गुरुदेव एवं धन्य है उनके श्री तिवारी दम्पति जैसे कृपा पात्र शिष्य!

कालजयी महाप्रभु द्वारा काल पर विजय

प्रेषक–वेदव्रत द्विवेदी (उमापुर)

अकारण दयालु योग योगेश्वर, परम पिता परमेश्वर के विग्रह स्वरूप का दर्शन, पूजन मनन चिन्तन करना उन करूणा सागर सद्गुरुदेव की कृपा का प्रसाद है।

गुरुदेव भगवान के चरणोदक की एक बूँद पाने के लिए कितने जन्म लेने पड़ते है, तब जाकर श्री गुरुदेव भगवान का सानिध्य प्राप्त होता है। जब मनुष्य का पूर्ण भाग्योदय होता है तब जाकर कहीं सिद्धो की संगत मिलती है और उन सिद्धो की कृपा के द्वारा ही परिपूर्ण सद्गुरुदेव भगवान का सानिध्य प्राप्त होता है।

उत्तर प्रदेश प्रान्त के अन्तर्गत इलाहाबाद जनपद मे एक छोटा सा गाँव उमापुर गंगा नदी के तट पर स्थित है। इसी गाँव मे आज से लगभग दो वर्ष पूर्व एक ब्राह्मण बालक पर योग योगेश्वर दादा गुरुदेव भगवान ने अहैतुकी कृपा की। इस लेख का मुख्य विषय भी यही है, कि कालजयी महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज अनाथों के नाथ त्रिभुवनपति योगेश्वर किस प्रकार अपने प्यारे बच्चों पर अहिर्निश संकट मे रक्षा किया करते है।

घटना सन् 2006 अक्टूबर माह दिनांक 2.10.06 दिन सोमवार की है। जब एक बालक को अचानक तेज बुखार एवं शरीर मे कम्पन आरम्भ हुआ तथा असह्य पीड़ा से शरीर व्याकुल हो रहा था, वह ब्राह्मण बालक जिसका नाम आशुतोष द्विवेदी है।

वह पूर्व की भाँति अपने घर के कमरे मे लेटा हुआ प्रभु चिन्तन मे था और उसी कमरे मे महाप्रभु योगयोगेश्वर दादा गुरुदेव भगवान एवं हमारे और आपके तथा प्राणि मात्र के भाग्य विधाता योगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज एवं जगतनियन्ता जगत् सद्गुरु सदा शिव भगवान का स्वरूप विराजमान था। स्वास्थ्य ठीक होने से पूर्व यह बालक जिसका नाम आशुतोष द्विवेदी है प्रभु जी द्वारा निर्देशित दिनचर्या का यथावत पालन करता रहता। दैनिक आरती, प्रातः पौने चार बजे उठकर दैनिक क्रिया से निवृत्त होकर सही और सुचारु रूप से कार्य पूर्ण करना अपनी जिम्मेदारी न समझकर प्रभुजी के आदेशों का पालन करना अपनी दिनचर्या और स्वभाव मे ढाल लिया, यह सब कार्य करते हुए पढ़ाई लिखाई करना तथा गृहस्थी के कार्यो मे लगा रहना प्रभु की इच्छा मानकर हर कार्य करता।

जैसा कि पहले ही बतलाया गया है कि 2 अक्टूबर सन् 2006 दिन सोमवार से अचानक तबियत बिगड़ती चली गई। यह क्रम लगभग 25 दिनों तक जारी रहा, मन बोझिल शरीर सूख कर कांटा की तरह हो गया, गांव के छोटे–मोटे डाक्टरों को दिखाने के बावजूद भी कुछ फायदा नही हुआ, दवा ज्यों–ज्यों दी जाने लगी मर्ज त्यों–त्यों ही बढ़ता गया।

इधर गाँव के कुछ लोग उलाहना देने लगे, कि प्रभुजी के भक्त होते हुए भी बीमार हो

गये, हास्यास्पद, भावो से बोलते तथा छूआछूत की बीमारी मानकर पास में देखने भी न आते।

इस तरह वह शुभ दिन आ गया अनाथों के नाथ दीनानाथ योगयोगेश्वर परम पिता परमेश्वर महाप्रभु की असीम कृपा 27 अक्टूबर सन् 2006 को इस बालक पर हुई।

रात में करीब दो ढाई के बीच गहरी निद्रा लगी तथा स्वप्न में महाप्रभु जी चिन्मय स्वरूप में आकर विराजमान हो गये, उसी समय भयानक आकृति वाला यमराज आकर घर के आंगन वाले हिस्से में दिवार के पास खड़ा हो गया, जिसका रूप विदीर्ण भयानक चेहरा सर पर दो सींग तथा हाथ में गदा लिए हुए वह पीड़ित बालक आशुतोष की ओर देख रहा था।

इधर चारपाई के पास महाप्रभु जी खड़े हुए थे ज्यों ही यमराज ने बढ़ना प्रारम्भ किया, तभी योग योगेश्वर महाप्रभु जी कुछ बोले तथा बालक स्वप्न में सब कुछ देख रहा था। तब तक महाप्रभु जी ने अपने चिमटे से उस दूत पर प्रहार किया। तो उस दूत की छाया ही रह गई। बाद में सब कुछ समाप्त हो गया। उसके बाद महाप्रभुजी ने बालक से कहा कि डरने की कोई बात नही सब कुछ ठीक हो जायेगा। इधर सुबह होती स्वास्थ्य ठीक हो गया।

दयालु दीन बन्धु के बड़े विशाल हाथ हैं।
अनाथ कौन है, यहाँ अनाथ नाथ साथ हैं।।
बन्दउँ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।
महामोह तम पुँज जासु वचन रवि कर निकर।।

मैं उन सद् गुरुदेव भगवान के चरण कमल की वन्दना करता हूँ जो कृपा समुद्र और दाता कुबेर से भी बढ़कर है और नर रूप में श्री हरि परम ब्रह्म परमेश्वर है जिनके वचन मात्र से समस्त विकार नष्ट हो जाते है। सद्गुरुदेव भगवान उस घने अंधकार के नाश करने के लिए स्वंय भास्कर है।

उन कृपा सागर गुरुदेव भगवान के चरण कमलों में दीनता पूर्वक याचना करता हूँ कि अबोध बालक समझकर अपनी चरणों में निशदिन लगाये रखें तथा सुविज्ञ पाठकों एवं लेखकों से विनम्र निवेदन है कि लेख की त्रुटियों पर ध्यान न देते हुए क्षमा करने की महती कृपा करें।

अरे मनुष्यो ! तुम लोग जन्म–जन्मान्तर से अज्ञानरूपी निद्रा में सोये हुए हो। अब भी समय है। उठो, जागो और महापुरुषों की शरण में जाकर उनके उपदेश द्वारा अपने कल्याण का मार्ग और परमात्मा का रहस्य समझ लो। परमात्मा का रहस्य बड़ा गहन है, उसकी प्राप्ति का मार्ग तलवार की तेज धार पर चलने के समान है। ऐसे दुस्तर मार्ग से सुगमतापूर्वक पार होने का उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं, जो इस मार्ग को स्वंय पार कर चुके हैं।

गुरु-शिष्य

भगिनी निवेदिता

हिन्दू धर्म के उपदेशों को यदि पर्याप्त विस्तार एवं स्पष्टता से व्यक्त किया जाय, तो निःसन्देह यह दिखाई देगा कि वे सर्वदिक चिंतन की दिशा उपलब्ध कर देते हैं। हिन्दू चिंतन, हिन्दु परिकल्पना का वास्तविक उद्दिष्ट है मनुष्य का उद्धार, उसकी मुक्ति है। इस उद्दिष्ट की प्राप्ति के लिए नित्य निरन्तर वर्धिष्णु विचारों, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर ध्येयों को उसके समक्ष रखना, उनकी उपासना उससे करवाना यही मार्ग है। समग्र संसार में कहीं पर भी शिक्षा की योजना के अन्तर्गत यही एक मात्र विधिसम्मत मार्ग है। बौद्ध धर्ममत का मूल स्रोत हिन्दुधर्म ही है। यह बात सबसे अधिक स्पष्टतया बौद्ध धर्मग्रन्थ धम्मपद के प्रारंभिक शब्दों में ही निदर्शित है: 'हम जो कुछ हैं अपने चिन्तन का परिणाम हैं। हमारा समग्र अस्तित्व, हमारा जीवन हमारे विचारों पर आधारित है। हमारा गठन, हमारा चरित्र निर्माण हमारे विचारों से हुआ है। समस्त संसार में हिन्दु विचारक, दार्शनिक ही एक–मात्र ऐसा है जो इस एकमात्र सत्य, एकमात्र तत्व पर किसी मत प्रणाली को आधारित करने की कल्पना कर सकता था।

भारतवर्ष में जो–जो विचार, कल्पनाएं धार्मिक उपदेशों, सिद्धान्तों के रूप में प्रचलित हुई हैं, उनमें सर्वाधिक चित्ताकर्षक एवं अनाकलनीय, अगम्य कल्पना है गुरुभक्ति की। किसी विचार को, किसी ज्ञान को बिना गुरु के प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु की शरण में अपना अहंकार छोड़कर अनन्य भाव से जाना होगा। उसकी सेवा करनी होगी। '**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।**' (गीता 4.34) गुरु से नम्रतापूर्वक प्रणाम, जिज्ञासु प्रश्न और सेवा के द्वारा ज्ञान का उपदेश प्राप्त किया जाता है। जब तक ऐसा कर प्रत्यक्ष अनुभव न लिया जाय इस विधि पर किसी का विश्वास होना कठिन है। परंतु ऐसा सोचना महान भूल होगी कि यह नियम केवल धार्मिक शिक्षा, ज्ञान, उपदेश अथवा अनुग्रह के विषय में है। यह भी सोचना भूल होगी कि हमें आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक कल्याण के विषय में तथ्य, विचार, उपदेश जो देता है उसी को गुरु कहें।

सत्य कहीं से भी प्राप्त हो उसे ग्रहण करने की हमारी वृत्ति होनी चाहिए। जिस जिससे हमें कोई भी शिक्षा प्राप्त हो उस प्रत्येक व्यक्ति के प्रति हमें आदर भाव रखना चाहिए। वय, पद, नाता आदि में हमसे जो श्रेष्ठ है उन सबके प्रति समादर रखना हमारा कर्तव्य होता है, किंतु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है शील अथवा चरित्र और ज्ञान अथवा विद्वत्ता जिसके प्रति हमें समादर ही नहीं, वरन् अनन्यशरण भाव रखना चाहिए।

अपने विद्यार्जन के काल में अनेक शिक्षकों ने हमें पढ़ाया होगा, अनेकों से अनेक विषय हमने पढ़े होंगे। परंतु उनमें एकाध ऐसा होगा जिसका आचरण, जिसका जीवन, जिसका

व्यक्तित्व स्वयं एक ग्रंथ होगा। जिसके आचरण ने हमारे जीवन को प्रभावित किया होगा, हमारे व्यक्तित्व को आकार दिया होगा। बिना बोले, बिना कहे, उसे देखकर हमने उसका अनुकरण किया होगा। वही वास्तव में गुरु है। हमें अपने अनुभव के आधार पर जिस मार्ग पर चलना है उस मार्ग का दर्शन वह गुरु हमें कराता है। परंतु जीवन में हम जो भी ज्ञान सम्पादन करें, फिर चाहे वह नितान्त लौकिक ज्ञान क्यों न हो, हमें निरन्तर श्रद्धापूर्वक उस स्रोत का, उस गुरु का स्मरण करना चाहिए जिससे वह ज्ञान हमें मिला हो। जिस-जिस से हम मिले, प्रत्येक से हम कुछ न कुछ सीख सकते हैं, प्रत्येक हमारे लिए ज्ञानदाता बन सकता है। जिस किसी ने कोई साक्षात्कार, कोई महान अनुभूति की हो, ऐसे व्यक्ति की खोज में हमें सदा रहना चाहिए। सुसंस्कृत समाज में विचरण करने वाले व्यक्ति के लक्षण हैं: मनोयोगी स्वभाव, ज्ञानी के प्रति समादर, लोगों के विचारों के प्रति सम्मान भाव और नवनवीन सत्य की जिज्ञासा। इसी प्रकार स्वमताग्रह हठीपन और अपने से विचारों में श्रेष्ठ लोगों की उपेक्षा एवं निरादर या अशिष्टता एवं असंस्कृत समागम के परिचायक है।

नवीन कल्पना, नव विचार जो पीढ़ी लेकर चलती है, उस पीढ़ी के युवकों को प्रत्येक पग पर इस प्रकार की अशिष्टता की भूल करने के प्रलोभन के अवसर आते हैं। वे अपने पितरों के नियत मार्ग को छोड़कर एक नया मार्ग ग्रहण करते हैं। परंतु उन्हें यह नहीं भूला चाहिए कि जिस एक विषय में वे पूर्व निर्धारित मार्ग से हटे हैं, उसके अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में उनकी अपेक्षा उनके पितरों का ज्ञान अधिक है। ये नवीन विचार, नवीन कल्पनाएं भी उनके पूर्व किसी ने बताई हैं: वे उनसे ऊंचे हैं, श्रेष्ठ हैं। यह नवविचार यदि अपने ज्येष्ठ, श्रेष्ठ पितरों की सामाजिक घनिष्ठता और प्राचीन संस्कृति की परख को अधिक दृढ़, अधिक पक्की न कर सके तो वह विचार भी व्यर्थ है। परंतु अपने से बड़ों के प्रति उपेक्षा के भाव और सहृदयता के अभाव के कारण युवक वर्ग सभ्य समाज में अपने प्रति घृणा निर्माण कर लेता है। यह ज्येष्ठ वर्ग उसे एक बार परख लेता है और फिर से उसे उत्तेजना नहीं देता, इसके फलस्वरूप फिर उस युवक को अपने से हीन, कनिष्ठ लोगों से समागम करना पड़ता है। वरिष्ठ लोगों के लिए यह युवक असह्य, उद्दण्ड हो जाता है। जो दूसरे किसी को मानता नहीं, जो अपने ही नेतृत्व में हार्दिक विश्वास रखता है, जो स्वयंभू नेता है ऐसा युवक वास्तव में समाज-कण्टक है।

आज के युवकों से समय की मांग है कि सच्चे शिष्य बनें, समाज के लिए हुतात्मा बनें, समाज की बलि वेदी पर रोमांचकारी आत्म-समर्पण करने वाले सेवक बनें। इन सब में उत्साह, आवेग जितना आवश्यक है उतनी ही आवश्यक है विनय, नम्रता। नेता बनने के लिए उद्यत और उत्सुक लोग जहां चाहो मिल सकते हैं; गली-गली में नेता घूमते रहते हैं। ऐसे छुटभय्ये 'नेताजी' की समाज में कोई कमी नहीं है। परंतु हम यह बात एक बार अच्छी प्रकार समझ लें, कोई भी व्यक्ति जन्म जात नेता नहीं होता; सच्चा नेता तो संस्कारों से बनता है। जो निष्ठावान अनुयायी हो वही यथार्थ नेता बन सकता है। आइए, आगामी पीढ़ी के लिए, आगामी काल के लिए नेतृवर्ग निर्माण करने की इस प्रक्रिया को हम प्रभावी बनायें। आज की पीढ़ी के युवा वर्ग को सेवा, गहन

विचार और विनयशील बोध के संस्कार प्रदान करें।

किसी विषय–विशेष में मानव–जाति ने अब तक जो कुछ उपलब्धि प्राप्त की है, गुरु अपने शिष्य को उससे अवगत कराते हुए उसे अद्यावत् बना देता है। जिस प्रकार अपने माता–पिता से हमें अपना भौतिक शरीर प्राप्त होता है, वैसे ही गुरु के माध्यम से हमें बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन प्राप्त होता है। गुरु को उसके जीवन में जितना भी ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसे वह अपने शिष्य पर उद्घाटित कर देता है। इसलिए गुरु का सर्वप्रथम आवश्यक गुण, प्रधान योग्यता यह है कि उसमें अध्ययन की असामान्य शक्ति होनी चाहिए। अपने ज्ञान को सतत परिमार्जित करते हुए उसे अद्यावत् रखना चाहिए।

विश्वविद्यालयों का वास्तविक कार्य छात्र को प्रत्येक घटना और अवसर से शिक्षा ग्रहण करने का प्रशिक्षण देना है। किसी भी प्राप्त परिस्थिति से जो अधिक से अधिक ग्रहण करेगा वही समाज का उत्तम बौद्धिक नेतृत्व कर सकेगा। अनन्यशरणता यह शिक्षा का सर्वश्रेष्ठ परिचय है, लक्षण है। अर्थात् यह अनन्यशरणता अथवा समर्पण, आत्मनिवेदन माने निष्क्रियता अथवा मूर्खता नहीं। जो गुरु को आत्म–समर्पण करता है, आत्म–निवेदन करता है वह कोई अज्ञानी, अनाड़ी, निर्बुद्ध नहीं होता। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर भगवान श्रीकृष्ण की शरण में जाने वाला अर्जुन धनुर्धारी, महावीर, अपने समय का सर्वश्रेष्ठ नर, नरोत्तम था। और फिर भगवान श्रीकृष्ण का गीतोपदेश केवल अर्जुन ने ही नहीं सुना, वरन् भगवान के स्पर्श से और शब्द से रथ के वे उल्लसित अश्व भी रोमांचित हुए। इतना ही नहीं, गीता के गायन से जो ध्वनि–तरंग निःसृत हुए वे उस निर्जीव रथ पर भी टकराये। सुना तो तीनों ने, रथ, अश्व और अर्जुन तीनों ने सुना, किंतु क्या तीनों ने एक सा सुना? क्या तीनों की अनन्यशरणता, तीनों का आत्म–समर्पण भगवान के चरणों में एक समान था? नहीं! कतई नहीं! कोई भी दो व्यक्ति अलग–अलग ढंग से, अलग स्तर से सुनेंगे। असमय क्रियाशीलता से अधिक अपरिष्कृत आचरण कोई अन्य नहीं होगा। परंतु गुरु चरणों में हमारा निरहंकार आत्म–समर्पण, जो कि हमारा प्रगति मार्ग प्रशस्त करता है, अत्यन्त तीव्र, संक्रमण्य होता है, और अब तक के हमारे समस्त प्रयासों, संघर्षों का फल उसमें निहित होता है।

यह तो गुरु की सामर्थ्य और कृपा है जो हमें बल प्रदान कर साक्षात्कार, अनुभूति कराती है। हमारे प्रयास किसी भी दिशा में और कितने ही क्यों न हों, वे नितान्त नगण्य होंगे, यदि मानव के आविष्कारों के इक्के–दुक्के संकेतों के रूप में हम निर्जनता में जाकर यह प्रयास करें। आज हमें यदि कोई महत्त्व प्राप्त हुआ है तो वह इस कारण कि हम ऐसे स्थान पर अवस्थित हैं जो युग परम्परा से हमें प्राप्त हुआ है और जहां से भविष्यकाल का, कल का अरुणोदय होने जा रहा है यह जो हमारा स्थान बना है वह मात्र गुरु के साथ प्रस्थापित हमारे समैक्य [Solidarity] हमारी एकात्मता के कारण, अन्य किसी कारण नहीं। हमारी जानकारी जितनी बढ़ेगी, हमें यह अनुभव होगा कि मानव ज्ञान–भण्डार में हमारा अंशदान अत्यणु है। न्यूटन ने कहा था, 'मेरा वैज्ञानिक ज्ञान समुद्र तीर पर फैली हुई बालू में एक बालु–कण के समान नगण्य है।' हम जितना

अधिक जानेंगे, उतना ही अधिक इतिहास हमसे डंके की चोट पर बातचीत करेगा, महापुरुषों के कार्य अधिक सार्थक होंगे, अपने मार्गदर्शक के नेता की कल्पना के अनुसार हम अधिक प्रयास करेंगे, उसकी ही ओर से मानो नया प्रयास करेंगे।

जहाँ तक गुरु का प्रश्न है, उसकी ओर से कोई मांग नहीं होती; वह जो ज्ञान देता है, जो विद्या प्रदान करता है वह निःशुल्क देता है, निरपेक्ष भाव से देता है। गुरु ध्येय निर्देश करता है, लक्ष्य की ओर संकेत करता है। गुरु के इस व्यवहार में और किसी मनुष्य को अपनी बात को मानने के लिए विवश करने में आकाश–पाताल का अन्तर है। गुरु कभी अपने शिष्य को परवश, पराभूत नहीं बनाता। इतना ही नहीं, प्रत्युत आदर्शों के विकास और परिपक्वता के लिये जितनी स्वतन्त्रता, जितनी छूट गुरु देता है, उतनी प्रायः कोई नहीं देगा। शिष्य की गुरुभक्ति असीम होती है, उससे जो अपेक्षा की जाय उसे पूर्ण करने में वह दो पग आगे रहेगा। शिष्य के सेवा–भाव को गुरु यथावकाश अपनी व्यक्तिगत परिचर्या से मोड़कर देश, राष्ट्र, मानवता और ईश्वर सेवा के जीवन–व्रत के रूप में परिणत करेगा। परंतु यह गुरु के लिए करणीय है, गुरु का कर्तव्य है, शिष्य को उसकी मांग नहीं करनी चाहिए, वह उसका अधिकार नहीं।

गुरु जो–जो सिद्धि प्राप्त करेगा, वह जितना ऊपर उठेगा, वह जितना महान होगा, उतना ही अधिक बल, अधिक प्रेरणा शिष्य को प्राप्त होगी। हो सकता है दोनों के सामने एक समान ध्येय, एक ही आदर्श हो। इसीलिए कहा जाता है, गुरु बिन कौन बताए बाट? आध्यात्मिक संसार में बिना किसी जड़मूल अथवा परम्परा का स्वयंभू प्रतिभा–सम्पन्न पुरुष बनने की अपेक्षा साधारण से साधारण, नगण्य व्यक्ति की शिष्य परम्परा में होना अधिक गौरव की बात है। उपर्युक्त स्वयंभू महापुरुष (!) अतिशीघ्र कालसागर में विलीन हो जायेगा ऐसे स्वयंभू पुरुष तो विलीन हो जायेंगे, मुरझा जायेंगे, और वे पुरुष जो गुरुभक्ति में, गुरु के प्रति समर्पण भाव में, गुरु शरण होने में अनन्य भाव नहीं रखेंगे, हाथ रोक कर आगे बढ़ेंगे, सीमाबद्ध रहेंगे, वे कभी जड़ न पकड़ पायेंगे। ये दोनों ही अवस्थाएं समान रूप से निन्दनीय और त्याज्य हैं।

○○○

प्रत्येक व्यक्ति पृथ्वी का सबसे श्रेष्ठ और आवश्यक प्राणी है, किसी को भी अपने को अनावश्यक, तुच्छ अथवा हीन नहीं समझना चाहिये। यदि वही अपना मूल्य नहीं समझेगा तो दूसरे उसे क्यों आवश्यक मानेंगे? सबसे बड़ी बात है कि मनुष्य न दीन–हीन है, न तुच्छ। उसे सदैव मनुषत्व और मनुष्य सुलभ शक्तियों में विश्वास बनाये रखना चाहिये। अन्य प्राणियों की भाँति वह न गया–गुजरा है और न ही तुच्छ !

अष्टांग योग

डॉ. ऋषिराम शर्मा (लखनऊ)

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

g/G : भगवत्कृपा / गुरुकृपा

सूत्र के यह दोनों अवयव अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा इनके बिना अध्यात्म सिद्धि सम्भव नहीं। परमात्म ज्ञान का प्रतीक अवयव K भी इन्हीं के योगदान का फल है। अन्यथा कोई भी पुरुषार्थ क्रियात्मक होने के कारण पुण्य वृद्धि ही करता है, किन्तु परमात्म ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। इसका कारण यह है कि परमात्मा अचिन्त्य है और प्रकृति के गुणों से परे है। भगवान श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं –

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा दृष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्तिमद्भावं सोऽधिगच्छति।।

अर्थात् सभी क्रियात्मक पुरुषार्थ का हेतु प्रकृति ही है जो कि गुणों तथा उसके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा शरीरादि विकारों के माध्यम से उस कार्य को करती है। जब साधकरूप दृष्टा इस सत्य को जानकर प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, वही परमात्मभाव को प्राप्त करता है। यह स्थिति गुरुदेव अथवा परमात्मा के कृपारूप शक्तिपात से ही प्राप्त होती है। इसीलिए हमारे शास्त्र स्पष्ट घोषणा करते हैं कि –

यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्मै ते कथिता: ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

अर्थात् जिसकी परमात्मा में पराभक्ति है तथा जैसी परमात्मा में वैसी ही परा भक्ति अपने सद्गुरुदेव में भी है, उसी के लिए शास्त्रों के उपदेश तथा महात्माओं के प्रवचन होते हैं। गुरुदेव तथा परमात्मा एक ही परम तत्व विशुद्ध ब्रह्म के प्रतीक हैं। विशुद्ध ब्रह्मबुद्धि का विषय तो है नहीं जिस पर कोई तर्क दिया जा सके और न उसका कोई दृष्टान्त है। केवल श्रुतिप्रमाण ही एकमात्र आश्रय है। श्रुति कहती है कि –

'नतस्य प्रतिमास्ति'

अर्थात् उसका कोई अन्य प्रतमा यानि दृष्टान्त नहीं है। जितनी भी जड़ अथवा चेतन प्रतिमायें यानि दृश्य हैं वह सभी इसी परम तत्व से प्रकट हुए हैं। इसका श्रुतिप्रमाण है कि –

सच्च त्यच्चाभवत् तदात्मानं स्वयमकुरुत (तै. 2/6/1)

स प्राणमसृजत प्राणात् श्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी इन्द्रियं मनोऽन्नम्
(प्रश्न. 6/4)

एतस्मात् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृह 2/1/20)

अर्थात् परमब्रह्म ने ही सत तथा असत सृष्टि की रचना करके स्वयं अपने विराट स्वरूप की रचना की। उसने ही प्राण की उत्पत्ति की, प्राण से श्रद्धा, पंचभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी तथा इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि की उत्पत्ति हुई। इस आत्मतत्व से ही समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण, समस्त प्राणियों की उत्पत्ति हुई। यही आत्मतत्व सद्गुरु है, क्योंकि श्रुति कहती है कि –

नास्ति तत्वं गुरोः परम्

अर्थात् गुरु ही परम तत्व शुद्धब्रह्म है। गुरुकृपा से ही विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव ने सृष्टि के पालन–पोषण, सृष्टि–रचना तथा सृष्टि की महाप्रलय की सामर्थ्य प्राप्त की क्योंकि शास्त्र प्रमाण है कि –

गुरोः कृपाप्रसादेन ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
सामर्थ्य तत्प्रसादेन केवलं गुरुसेवया।।

अर्थात् गुरुकृपा से ही विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव को शक्ति सामर्थ्य की प्राप्ति होती है। यह केवल उनकी गुरुसेवा का परिणाम है। काल की सीमा से परे गुरु ही परमतत्व है, क्योंकि –

यत्र अवच्छेदनार्थे कालो नोपवर्तते सः गुरुः

अर्थात् जो काल की सीमा से परे कालातीत सत्ता है, वही गुरु है। वही परमात्मा है, क्योंकि –

ईशाद्याः सकलाः देवाः दृश्यन्ते परमात्मनि

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवादि देवता परमात्मा के स्वरूप में ही दिखाई देते हैं। मैंने स्वयं अपने सत्यस्वरूप गुरुदेव जी के मुख से सुना है कि महावतार महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज (हमारे दादागुरु) ने श्री मुलखराज जी तथा श्री गोपालानन्द जी को प्रत्यक्ष में अपने को इन नित्यसिद्ध देवों के रूप में दिखाया था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि जिस दिन मैं श्री गोपालानन्द जैसी आध्यात्मिक स्थिति में आ सकूँगा स्वयं इस सत्य का प्रत्यक्षीकरण कर सकूँगा। परमात्मा ने सभी प्राणियों की रचना उनकी श्रद्धा के अनुसार की है, क्योंकि शास्त्रप्रमाण है कि –

सत्वानुरूपा हि सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषः सो यच्छ्रद्धः स एव सः।।
मन्नाथो त्रिजगन्नाथः मद्गुरुः त्रिजगद्गुरुः।
ममात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

अर्थात् जीवात्मा की श्रद्धा उसके अन्तःकरण में संस्कार जनित स्वभाव के अनुसार होती है। अतः जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसी ही उसकी बुद्धि है। इसीलिए श्रद्धा ही बुद्धिबोधात्मक जीवात्मा का स्वरूप है। अतः गुरुदेव को समर्पित साधक के लिए गुरुदेव ही त्रिलोकीनाथ हैं,

जगतगुरु है तथा सर्वभूतात्मक सद्गुरुसत्ता है। गुरुदेव का स्वरूप पंचभूतात्मक शरीर नहीं है अपितु अविद्यादि क्लेशों के मलावरण का नाश करने वाली दिव्यशक्ति है। शास्त्रों का प्रमाण है कि –

गुकारः तु अंधकारःस्यात् रुशब्दः तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते॥

अर्थात्गुरु शब्द में गुकार अंधकारवाचक है तथा रु शब्द उसका निरोधवाचक है। अतः अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करने वाले स्वरूप को सद्गुरु कहा गया है। परमात्मा स्वयं भी सद्गुरु का ही एक स्वरूप है, क्योंकि महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इस सत्य की पुष्टि की है कि –

गुरुणामपि गुरुः कालेनाभिच्छेदात्

अर्थात् काल की सीमा से परे अनन्त ज्ञान का स्वरूप होने के कारण परमात्मा ही गुरुओं का गुरु होने से सद्गुरुसत्ता ही है। स्वयं नित्यसिद्ध योगेश्वर है। इसीलिए भगवान शिव ने सभी योग साधनाओं का फल बताते हुए उपदेश दिया है कि –

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेत् विधे॥

अर्थात् योगसाधना में लगे हुए साधक के लिए महान पुण्यकर्म का लाभ प्राप्त होता है और इसी पुण्यकर्म के फलस्वरू उसे सिद्धपुरुष के रूप में गुरुदेव की संगति प्राप्त होती है। इसी गुरुकृपा से वह योगी बनता तथा उसका अविद्याजनित संसार नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त योगसिद्धि का अन्य मार्ग नहीं है। योगसिद्धि के बिना शब्दज्ञान से मोक्षप्राप्ति नहीं होती।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में इसी परमसत्य की पुष्टि की है कि –

वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्।
गुरुदेवः हरिः साक्षात् नान्यां इति अब्रवीत श्रुतिः

अर्थात् वेदशास्त्र तथा अन्य सभी शास्त्र पुण्यवृद्धि के लिए विहित तथा निषिद्ध कर्मों का उपदेश देते हैं, न कि मोक्षप्राप्ति के लिए। अतः मोक्ष जिज्ञासु को ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ी की तरह इनका त्याग कर गुरुभक्ति ही सदैव करना चाहिये, क्योंकि उसका मोक्षरूपी कल्याण तो केव गुरुकृपा से ही संभव है। श्रुति का प्रमाण है कि गुरुदेव का स्वरूप साक्षात् परमात्मा का ही स्वरूप है, क्योंकि –

पुरुषार्थशून्यां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं चितेस्वरूपस्थितिः इति

अर्थात् योगसिद्ध होने पर कैवल्यावस्था में गुणात्मक माया पुरुषार्थशून्य होकर मूलप्रकृति में विलीन हो जाती है और तब चिदिशक्ति अपने सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप में आ जाती है। जगदीश्वर श्रीकृष्ण ने भी अपने मुखारविन्द से इसे स्वीकार किया है, कि –

सर्वभूतस्थितं यो मां भजति एकत्वमास्थित:।

सर्वथा वर्तमानोऽपि सः योगी मयि वर्तते।।

अर्थात् मेरे स्वरूप में अभिन्नता को प्राप्त समस्त प्राणियों में स्थित मेरे सर्वव्यापक परमात्मस्वरूप में लीन योगी पंचभूतात्मक शरीर में रहते हुए भी मेरे स्वरूप में ही विचरण करता है। (क्रमश:)

नीर क्षीर विवेक ही स्थूल व सूक्ष्म जगत का सेतु है। यह सेतु एक ओर अनन्त में विलीन कराता है। दूसरी ओर हमें दृश्य जगत से जोड़ता है। जब साधक प्रयत्न द्वारा तथा साधना व स्वाध्याय द्वारा नीर–क्षीर विवेक प्राप्त कर लेता है, तब परमात्मा के ध्यान से सूक्ष्म हुई बुद्धि (दिव्य दृष्टि) द्वारा परमात्मा का साक्षात करता है। साथ ही समस्त अज्ञान, काम, क्रोध व संशयों को नष्ट करके आत्म स्थिति को प्राप्त होता है। उस अनन्त प्रकाश से प्रकाशित साधक का अन्त:करण अब संसार की समस्त वेदनाओं को एक समान महसूस करता हुआ समस्त संवेदनाओं को अपने लिए उपयोगी बना लेता है। इस प्रकार अन्त:करण की समस्त क्रियाओं, इन्द्रिय व शरीर का संचालन हमारे अधीन हो जाता हैं तब साधक सच्चा कर्मयोगी बन जाता है। अब वह परमात्मा रूपी अमृत तत्व को भी अनुभव करने वाला हो जाता है। जगत् के व्यवहारों का भी कुशल संचालक बन जाता है। आत्म दर्शन द्वारा उसकी आसक्ति व फलाशा का नाश हो जाता है।

महाभारत में योगविद्या

डा. राजकुमारी त्रिखा

योगसाधना संबंधी गत विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त स्थान में, चिह्नितकाल में तथा शास्त्रनिर्दिष्ट आसन (बिस्तर) पर निश्चल व सीधा बैठकर अपने इष्ट देवता अथवा अन्य किसी भी ध्येय विषय का एकाग्र मन से चिन्तन करना ही योगसाधना की सामान्य विधि है। परन्तु मन को किसी एक लक्ष्य पर अधिक समय तक एकाग्र करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। प्रारम्भ में तो मन ध्येय विषय पर क्षण भर को एकाग्र हो जाता है, परन्तु कुछ समय पश्चात् ध्येय विषय सम्बन्धी विचार श्रृंखलाओं में भटक जाता है, उदाहरणार्थ यदि किसी ने अपने इष्टदेव राम पर मन एकाग्र करना चाहा तो, मन में स्वतः ही सीता से सम्बन्धित विचार आने लगते हैं फिर सीताहरण का प्रसंग तथा रावण का विचार मन में आ जाता है। रावण कितना दुष्ट व पापी था, परस्त्री पर मोहित था। आजकल तो कितने ही रावण हो गये हैं। अपने पड़ोसी को ही देखो ! पराई स्त्रियों को कैसे देखता रहता है.......? और इस प्रकार ध्यान प्रक्रिया राम से प्रारम्भ होकर रावण और अन्त में अपने चरित्रहीन पड़ौसी तक पहुँच जाती है, अतः श्रीमद्भगवद् गीता में कहा गया है – यह मन अत्यन्त चंचल है। इसकी गति का नियन्त्रण करना, वायु के बहाव को रोकने के समान है।

ऐसी ही स्थिति में मन को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से शास्त्रों में कहा गया है – मन तथा प्राण एक दूसरे के सहचर हैं। जहाँ मन जाता है, वहीं प्राण भी जाते हैं, तथा जहाँ प्राण जाते हैं, वहीं मन भी जाता है । अतः मन की एकाग्रता अर्जित करने के दो उपाय हैं।

(1) मन के नियन्त्रणपूर्वक साधना

(2) प्राणों के नियन्त्रणपूर्वक साधना अर्थात् प्राणायाम

मन के नियन्त्रणपूर्वक साधना :

महाभारत में योगसाधना संबंधी इन दोनों विधियों का विधान किया गया है। वशिष्ठ मुनि कहते हैं – योगियों का प्रधान कर्तव्य ध्यान है। वही उनका परम बल है। योग विद्या निष्णात विद्वान उस ध्यान को दो प्रकार का कहते हैं – एक तो मन की एकाग्रता और दूसरा है प्राणायाम। फिर भी महाभारत में मन के नियंत्रणपूर्वक साधना प्रणाली को प्रधानता दी गयी है तथा अनेकशः इसकी चर्चा की गयी है, श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – साधक संकल्प से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं का पूर्णतया त्याग कर, भलीप्रकार से व सभी ओर से मन के द्वार नियंत्रित करके, शनैः शनैः विषयों से उपरत हो जायें, अर्थात् विषयों का चिंतन न करें। तत्पश्चात् – धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को आत्मा में स्थापित करें, तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय पर विचार न करें। साधक । यह चंचल तथा अस्थिर मन

जिस – जिस विषय की ओर जावे, तब–तब मन को उन विषयों की ओर से रोककर परमात्मा की ओर ही ले जायें।

इस साधना पद्धति में सर्वप्रथम इन्द्रियों व मन को स्थिर करना मुख्य कार्य है यदि इन्द्रियाँ स्थिर नहीं हुईं, तो ध्यान से उपलब्ध शक्ति चंचल इन्द्रियों के मार्ग से व्यर्थ हो जायेगी। अतः शुकदेव मुनि को उपदेश देते हुए महामुनि कहते हैं – जैसे मशक में एक स्थान पर भी छिद्र हो, तो वहीं से सम्पूर्ण जल बह जाता है, उसी प्रकार पचेन्द्रिययुक्त जीवात्मा की यदि एक इन्द्रिय भी छिद्रयुक्त (दोषयुक्त) हुई अर्थात् विषयाभिमुख हुई, तो उसी इन्द्रिय द्वार से उसकी बुद्धि क्षीण हो जाती है। जैसे – मछेरा जाल काटने वाली दुष्ट मछली को सर्वप्रथम पकड़ता है, उसी प्रकार योगवेत्ता साधक सर्वप्रथम अपने मन का नियन्त्रण करे। तत्पश्चात् क्रमशः कान, नेत्र, जीभ व नासिका का निग्रह करे। प्रयत्नशील साधक इन पाँचों इन्द्रियों को वश में करके मन में स्थापित करे। इसी प्रकार संकल्पों का त्याग करके मन को बुद्धि में लीन करे। जब मन सहित ये पाँचों इन्द्रियाँ बुद्धि में स्थिर होकर प्रसन्न हो जाती हैं, तब उस योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

अतः प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों व मन को वश में रखना चाहिये। तभी ध्यानाभ्यास परिपक्व होगा। इसी संदर्भ में व्यास मुनि कहते हैं – जैसे द्रव्य का इच्छुक व्यक्ति द्रव्य राशि को कोठे में एकत्रित करके रखता है, उसी प्रकार साधक इन्द्रिय – समूह को वश में करके नित्य आत्म तत्व का एकाग्रतापूर्वक चिंतन करे। योगसाधना से मन को उद्विग्न न होने दें।

वस्तुतः मन तथा इन्द्रियों का एक लक्ष्य पर एकाग्र होना ध्यान मार्ग की दिशा में प्रथम सोपान है। चंचल मन यदि क्षणभर को एकाग्र हो जाये तो अगले ही क्षण वह पुनः चंचल हो जाता है। भीष्मपितामह युधिष्ठिर को योग का उपदेश देते हुए कहते हैं – प्रारम्भ में एकाग्र करने पर साधक का मन कुछ देर को ध्यान मार्ग में स्थिर रहता है, परन्तु फिर वायु मार्ग (नाड़ियों) में पहुँच कर भ्रान्त सा होकर वायु के समान चंचल हो जाता है। अतः ध्यानयोग के ज्ञाता का कर्तव्य है कि वह योगसाधना में रुचि बनाये रखें। मन में क्लेश अथवा खिन्नता न आने दें। आलस्य व ईर्ष्या का त्याग करके पुनः सावधानीपूर्वक मन को एकाग्र करें। जिस प्रकार धूलि, भस्म, व सूखे गोबर के चूर्ण की ढेरियों पर जल का छिड़काव किया जाय, तो वह उतनी नहीं भीगती कि उनसे मूर्ति आदि बनाने जैसा कोई अभीष्ट कार्य किया जा सके क्योंकि सूखा चूर्ण भिगोने पर थोड़ा सा ही भीगता है, पूर्णतः नहीं भीगता। परन्तु क्रम से धीरे–धीरे भिगोने पर पूरा गीला हो जाता है, तथा मूर्ति आदि बनाने के काम में लाया जा सकता है। इसी प्रकार धीरे–धीरे विषयोन्मुख इन्द्रिय समूह को विषयों की ओर से रोककर, ध्येय विषय पर चित्त को एकाग्र करें। इस प्रकार धीरे–धीरे चित्त शान्त हो जायेगा।

स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा

योग मार्ग में प्रवृत्त साधकों का योग की उच्च भूमियों में प्रवेश हेतु निर्देश दिया गया है –

इन्द्रियों को वश में करके उन्हें मन मे स्थिर करना चाहिये। मन को अहंकार में, अहंकार को बुद्धि में तथा बुद्धि को प्रकृति में स्थापित करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि साधक की योगयात्रा स्थूल इन्द्रियों के नियंत्रण से प्रारम्भ होकर क्रमशः सूक्ष्म व सूक्ष्मतर तत्वों की ओर अग्रसर होती है। इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है व बुद्धि से परमतत्त्व सूक्ष्म है। साधक की स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा का भी यही क्रम है। इन्द्रियों को मन में लीन करना चाहिये, मन को बुद्धि में, बुद्धि को जीवात्मा में, तथा जीवात्मा को परमात्मा में लीन करना चाहिये। शान्तिपर्व में एक स्थल पर कहा गया है – वाणी (उपलक्षण से सभी इन्द्रियों) तथा मन को बुद्धि द्वारा नियंत्रित करके, विवेक रूपी नेत्र द्वारा बुद्धि का शमन करो। विवेक ज्ञान का आत्म ज्ञान से शमन करो, व आत्मा को परमात्मा मे लीन करो।

महाभारत में इस ध्यानक्रम का अनेक बार अनुमोदन किया गया है। ऋषि याज्ञवल्क्य वशिष्ठ को उपदेश देते हुए कहते हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध, इन पाँच इन्द्रिय दोषों को दूर करके, लय व विक्षेप को शान्त करके, सम्पूर्ण इन्द्रियों को मन मे स्थिर करो। तत्पश्चात् मन को अहंकार में, अहंकार को बुद्धि में और बुद्धि को प्रकृति में स्थापित करो। इस प्रकार सबका लय करके योगी केवल परमात्मा का ध्यान करते हैं।

एक अन्य स्थान पर कहा गया है– पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को संयम में रखकर बुद्धि के द्वारा परात्पर परमात्मा का अनुभव करो कि यह परमात्मा मेरा है और मैं इसका हूँ। इसी ने इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है। स्वयं ही अपने आप को परमात्मा में लगाकर निरन्तर उनका स्मरण करो। फिर बुद्धि से भी परे परमात्मा को जानकर, मनुष्य इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता।

इस प्रकार योगवेत्ताओं के मत में इन्द्रियों, मन व बुद्धि की वृत्तियों को सब ओर से रोककर सर्वव्यापी आत्मा के साथ उनकी एकता स्थापित करना ही सर्वोत्तम ज्ञान है। यही योग की प्रगाढ़ अवस्था है। इसलिए महाभारत में अनेकशः आत्मचिंतन का विधान किया गया है।

आत्म प्रतीति के पश्चात् योगी को आत्मा व परमात्मा की एकता का भी ज्ञान होता है। इसीलिए कहीं–कहीं परमात्मा के ध्यान करने का भी विधान महाभारत में किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं – योगसाधक शान्त, ब्रह्मचारी व निर्भीक होना चाहिये। वह मन को विषयों से रोककर, मुझमें लगाये। एक स्थान पर शब्दशून्य व, शान्त होकर, शरीर के भीतर व बाहर प्रत्येक अङ्ग में परिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन करने का भी निर्देश दिया गया है।

इस प्रकार मन को नियन्त्रित करके उसे आत्मा अथवा परमात्मा में लगाने की योगसाधनाविधि महाभारत में अनेकत्र वर्णित है। योगदर्शन मे भी चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा गया है। यह मन के नियन्त्रणपूर्वक योग साधना की प्रणाली है।

2. प्राणों के नियन्त्रणपूर्वक साधना

मन की एकाग्रता अर्जित करने की दूसरी साधनाविधि प्राणायाम है। प्राणायाम–साधना का विस्तृत विवेचन प्राणायामविषयक अध्याय में किया गया है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि शरीर के दोनों नासिकारन्ध्रों में श्वास अर्थात् प्राण, तथा प्रश्वास अर्थात् अपान की गति एक समान नहीं होती है। कभी एक नासिकारन्ध्र अधिक क्रियाशील होता है, कभी दूसरा। दोनों नासापुटों में जब प्राण व अपान की गति समान हो जाती है, तब मन एकाग्र हो जाता है, तथा प्राण सुषुम्नावाही हो जाता है। योगसिद्ध अनुभवी योगाचार्यों का कथन है कि भस्त्रिका प्राणायाम से प्राण व अपान की गति समान हो जाती है, प्राण सुषुम्णा में चलने लगता है, तथा मन एकाग्र हो जाता है।

महाभारत में एक स्थान पर प्राणों के नियन्त्रणपूर्वक साधना की विस्तृत विधि का वर्णन किया गया है। प्राण व अपान का योग करके, तत्पश्चात श्वासगति रोक कर, उन दोनों का भी अवरोध करके प्राणायाम करना चाहिये। फिर अन्तःकरण में पंचप्राणों का परस्पर योग करके श्वास–प्रश्वासगति का अवरोध करके प्राण को मूर्धा में ले जाओ। इस प्रकार ध्यानाभ्यास द्वारा परमात्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है। भगवान महेश्वर भगवती उमा को योगोपदेश देते हुए कहते हैं– योगी आसन पर बैठ कर अपने शरीर व ग्रीवा को सीधा रखे। मन में किसी प्रकार की व्यग्रता न आने दे। सुखपूर्वक बैठकर शरीर को निश्चल रखे। नासिकाग्र पर दृष्टि रख कर ध्यानमग्न हो जाये। किसी भी अन्य दिशा में न देखे। मन को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना (लक्ष्य विशेष पर मन एकाग्र करना) योगसिद्धि का सूचक है। अतः प्रयत्नपूर्वक मन को सदा स्थिर रखे। त्वचा, कान, जि ा, नासिका व नेत्र–इन सब इन्द्रियों को विषयों की ओर से समेट व एकाग्र करके मन में स्थापित करें। जब मन सहित ये पाँचों इन्द्रियां आत्मा में स्थिर हो जाती हैं, तब प्राण व अपान वायु एक ही साथ वश में हो जाते हैं, योगसिद्धि अटल हो जाती है। तब योगी सारे शरीर को निकट से उघाड़–उघाड़ कर देखे। शरीर क्या है, इस बात का चिन्तन करे। शरीर के अन्दर प्राणों की गति कैसी है, इसका भी चिन्तन करे। .....प्राणों के स्थान व कार्य का ज्ञान प्राप्त करे... ... यह योगियों का मार्ग है, जो पाँचों प्राणों में स्थित है। साधक श्रम को जीतकर आसन पर आसीन होकर आत्मा को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करके, भ्रूमध्य में मन का अवरोध करे। फिर प्राणों का निग्रह कर परमात्मा का चिन्तन करें। प्राण में अपान तथा अपान में प्राण की गति को अवरुद्ध करके (अन्तः व बाह्य कुम्भक), प्राणायाम में तत्पर हो जाये। इस प्रकार मुनि अपने अन्तःकरण में पाँचों प्राणों का परस्पर योग करे व निःशब्द उच्छ्वासरहित होकर अश्रान्तमना ध्यानमग्न रहे ....ऐसे योगाभ्यासी का मन शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और प्रसन्न मन होने पर परमात्मतत्व का साक्षात्कार हो जाता है।

इस प्रकार महाभारत काल में दो विधियों से योगसाधना की जाती थी, मन के नियन्त्रणपूर्वक, तथा प्राणों के नियन्त्रणपूर्वक। प्राणों के नियन्त्रणपूर्वक साधना का विस्तृत व विशद विवेचन प्राणायामविषयक अध्याय में किया जायेगा। मन में नियन्त्रणपूर्वक साधना महाभारत काल में अधिक प्रचलित थी।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है, कि योगसाधक को मेरुदण्ड, ग्रीवा व सिर को बिल्कुल सीधा रख कर दृढ़तापूर्वक व सुख पूर्वक बैठकर ध्यानाभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार सीधे बैठने का वैज्ञानिक कारण है। स्थिर व सीधा बैठने से मेरुदण्ड के भीतर होकर जाने वाली सुषुम्णा नाड़ी में प्राणवायु का प्रवेश सरलतापूर्वक हो जाता है, जिससे योगसाधना में अपेक्षाकृत तीव्रगति से प्रगति होती है। इस दृष्टि से पद्मासन, सिद्धासन व स्वस्तिकासन उपयोगी आसन हैं। इनमें मेरुदण्ड सीधा रहने के कारण साधक पर निद्रा का आक्रमण होने की सम्भावना घट जाती है, तथा चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है।

आजकल प्रचलित विपश्यना नामक बौद्ध साधना पद्धति में भी मेरुदण्ड सीधा रखने का निर्देश किया जाता है। इस साधना के साधकों का अनुभव है कि सीधे बैठने से मन शीघ्र एकाग्र होता है, तथा साधना में शीघ्र प्रगति होती है।

आधुनिक काल में कुछ योगाचार्य शवासन में भी योगसाधना (ध्यान) करने की शिक्षा देते हैं। परंतु इस प्रकार लेट कर साधना करने से साधक को निद्रा आ घेरती है। अतः प्रारम्भिक साधकों के लिये साधना की दृष्टि से शवासन अधिक उपयोगी आसन नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पद्मासन सिद्धासन व स्वस्तिकासन ही इस दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी आसन हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि साधना प्रारम्भ करने से पूर्व साधक को साधना हेतु उचित स्थान का चयन करके, उसे स्वच्छ करके, वहाँ शास्त्रनिर्दिष्ट कुशादि का आसन बिछाना चाहिए। फिर सन्ध्याकाल में शुद्ध होकर आसन पर सीधा बैठकर साधना का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रनिर्दिष्ट विधि-विधानपूर्वक साधना करने से साधना में प्रगति होती है।

●●●

प्रेम ज्योति (भक्ति प्रतीक)*

प्रेम है हृदय की रागिनी
है जीवन का आधार।
व्यष्टि से समष्टि को जोड़ने की
है साधना का आगार।
समष्टि को करता है तरंगित
प्रेम है सतत् प्रज्वलन की ज्योति।
अद्‌भुत समर्पण और है
विसर्जन का आधार।
दिव्य प्रकाश की है अनुभूति
अंतरंगता, तन्मयता, करुणा
का है मूलमंत्र।
प्रेम है एक शाश्वत सत्य
अद्वैत भक्ति की है जलधारा।

एक शक्ति है, प्रेरणा का अलौकिक छंद
मुक्ति का है महासागर।
महिमामयी विराटता-भव्यता का
है अद्वितीय प्रेम संसार।
प्रेम पूर्ण भक्ति की महिमा
है अद्वितीय भक्ति
स्नेह, प्रेम एवं भक्ति ही
श्री गुरुदेव 'अनन्त श्री' जी की
अनन्य भक्ति, प्रेम का है आधार।
प्रेम है हृदय की रागिनी
है जीवन का आधार।

निर्मला चन्देल उदयपुर (राजस्थान)

समाधि क्या ?

चित्त की वृत्तियाँ शाखा–प्रशाखा रूप से चाहे कितने ही रूप धारण कर लें, किन्तु ये सब की सब प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति के अन्तर्गत ही होती है। इन वृत्तियों के निरोध होने पर छोटी–मोटी सभी वृत्तियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जायेंगी।

संयमित मन वाले योगी की बुद्धि शुद्ध एवं परम निर्मल होने के नाते वह जिस वस्तु का साक्षात्कार करना चाहे उसका साक्षात्कार अपने संकल्प मात्र से ही कर लिया करता है। संकल्प मात्र से ही वह वस्तु तत्व को जान लेता है, क्योंकि उसके शुद्ध सात्विक मन में परमसद्गुरु का प्रकाश सदा भरा रहता है।

स्वाध्याय और जप ही जीवात्मा को परमात्मा की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव (ओउम्) का जप करता है, वह अल्प समय में ही अपने अभ्यास के बल से ईश्वर को अपनी ओर अभिमुख कर लेता है और ईश्वराभिमुख होने के परिणामस्वरूप समाधि को पा जाया करता है।

समाधि प्राप्त हो जाने के बाद सभी प्रकार के अन्तरायों एवं पापों का नाश हो जाया करता है। अतः योगमार्ग के साधक को सदैव स्वाध्यायशील रहना चाहिये और बिना किसी प्रमाद के ईश्वर के मुख्य नाम 'प्रणव' के जप एवं आराधना में तन्मय रहकर प्रभु का सान्निध्य प्राप्त करते रहना चाहिये।

एक साधक ने उपर्युक्त संदर्भ में पूछा – गुरुदेव! ईश्वराभिमुख का मतलब क्या है? ईश्वर तो हर समय रहता ही है। मैंने कहा – ठीक है, ईश्वर हर समय हर जगह है; किन्तु अभिमुखीकरण का अर्थ है ईश्वरीय तेज का अनुभव करना। जब इस ईश्वरीय तेज को जीव निरंतर की जप साधना से अपने में साक्षात अनुभव कर लेता है तो सिन्धु में बिन्दु की तरह वह स्वयं सत्ता को परमात्मसत्ता में विलीन कर देता है यानि वह परमात्म सत्ता से एकरूप हो जाता है। इसी जीवसत्ता और परमात्म सत्ता की एकरूपता का नाम समाधि है।

– योगयोगेश्वर अनंतश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/06-08

JUNE 2008

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

उत्पाद (ब्राण्ड) को बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना –

विभिन्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. डाक वस्तुओं पर [illegible] का विज्ञापन

2. [illegible] (अभिरक्षित)

3. [illegible] दर । रु. 1000 प्रति [illegible] 500.00 प्रति [illegible]

4. [illegible]

5. [illegible] 100/- प्रति [illegible]

6. [illegible] 100/- [illegible] 400/-

7. [illegible] 25 पैसे मात्र।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र

सैंमाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री

संस्थापक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. [illegible] शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सैंमाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2001/14566 सम्पादक : आचार्य प्र. (डॉ.) [illegible] शर्मा